प्रथम संस्करण; १९४४
द्वितीय संस्करण, १९५९

प्रकाशक—किताब महल इलाहाबाद
मुद्रक— हिन्दू समाज प्रेस, प्रयाग ।

सा' को

संकेत

सन्ध्या की छाया में

महिला-विद्यापीठ की समीपता जब प्राप्त हुई तब एकाकिनी सन्ध्या प्रतीची के पट पर विविध वर्णों को उदासीनता से उड़ेल नयनों की समस्त उत्सुकता से यह जाँच रही थी कि केवल रंगों के बखेरने से भी कोई चित्र उठ सकता है अथवा नहीं ? बसेरे का ओर अबाध गति से खिंचे जाने वाले खग तभी एक अपरिचित भाषा में मुखरित होकर न जाने क्या उत्तर दे गए ? कवि के बाहरी निवास-द्वार पर खड़े होकर भीतर दृष्टि दौड़ाई तो वहाँ के पौधों और लताओं ने स्वागत को स्निग्ध चितवन से उसे शीतल किया। उन्हें चीरती हुई एक रमणी-मूर्ति निकट आई जिसने हमारे आगमन की सूचना महादेवी जी को दी। मेरे साथ मेरे एक स्नेही कवि थे। ड्राइंग-रूम में हम दो मिनट ही बैठ पाए होंगे कि निकट द्वार से एक पतली पर स्वस्थ-शान्त काया श्वेत परिधान में हमारी ओर बढ़ती दिखाई दी। शीत के कारण एक 'शॉल' कंधों को ढक रहा था। दृष्टि उठाते ही प्रतीत हुआ जैसे सात्विकता ही साकार हो गई हो।

भगवान् अमिताभ की मूर्ति और उनके तप के चित्र के साथ 'सोफ़ा' और कुर्सियों को स्थान देकर कवयित्री ने अपने बाह्य जीवन में मानो प्राचीन और नवीन, पूर्व और पश्चिम, ललित कला और उपयोगिता में सामंजस्य स्थापित कर लिया हो। बैठते ही उन्होंने एकदम परिचित-स्वर में बोलना प्रारम्भ किया—एकदम सहज भाव से। इससे बड़ा सुख मिला। उनकी रचनाओं को

पढ़कर मेरी ऐसी धारणा हो गई थी कि वे अत्यन्त गम्भीर-स्वभाव की अल्पभाषिणी महिला होंगी। सम्पर्क में आते ही ये दोनों बातें निर्मूल सिद्ध हुईं। महादेवी जी हँसती बहुत हैं। निरंतर हँसती रहती हैं। बातें भी मन भरकर देर तक करती हैं। अब तक मुझे यह निश्चय करना दूभर हो रहा है कि वे हँसती अधिक हैं अथवा बातें अधिक करती हैं। उनके ओठों पर यह अजस्र हँसी किस उद्गम से फूटती है, यह केवल वे ही जान सकती हैं।

'दीपशिखा' के चित्रों को मूल में देखने की हमारी इच्छा जान उन्होंने उन्हें लाने का अनुग्रह किया। पुस्तक की अपेक्षा मूल के चित्र कहीं अधिक सुन्दर हैं। पुस्तक के चित्रों में न पृष्ठ-भूमि की वह सुन्दरता है, न वर्णों की यथाविधि अनुरूपता और स्पष्टता। रेखाएँ भी कहीं-कहीं ठीक से नहीं उभरी हैं। काव्य, संगीत और चित्र की ऐसी अपूर्व त्रिवेणी इस कलाकार के जीवन में बही है कि प्रयाग आज दुहरे पर्व का अधिकारी हो गया है। तीन-तीन ललित कलाओं के ज्ञान और प्रयोग के उदाहरण विश्व के साहित्य में विरल ही हैं। इन चित्रों में से मैंने दीप-शिखा के उस चित्र को पृथक् कर लिया जिसमें दो हाथ काँटों से बँधे हैं। यह चित्र मुझे बहुत प्रिय है—अपनी व्यंजना की अतिशयता के कारण। ध्यान से देखियेगा कि बाँए हाथ की हथेली पर कवि ने रेखाएँ इस कौशल से खींची हैं कि उनसे मिलकर 'म' बन गया है।

आलोचक शब्द एक प्रकार से बड़ा अनाकर्षक-सा है—जैसे वह किसी प्रकार के स्वागत का अधिकारी ही न हो। अतः जितनी देर मैं बैठा एक प्रकार से मौन ही रहा। महादेवी जी कवि-सम्मेलनों, प्रगतिवाद, कलाकार की स्वच्छन्द प्रवृत्ति, चित्रकला तथा

अपने दैनिक जीवन पर प्रासङ्गिक बातें करती रहीं। बातें वे अत्यंत सरल, स्पष्ट और आकर्षक ढंग से करती हैं और उनके पास जाने वाले व्यक्ति को यह सोचने की एकदम आवश्यकता नहीं है कि यदि वह उनके पास जाय तब किस विषय पर बातें करे। व्यक्ति को पहचानकर इस स्थिति को वे स्वयं ही सँभाल लेती हैं। अपनी बातचीत का विषय उन्हें एकदम स्पष्ट रहता है, उसे प्रारंभ करनेवाली चाहे वे हों और चाहे कोई दूसरा। पर यदि वे मौन भी रहें तब भी उनके सरल सात्विक आनन से प्रतिभा की झलक फूटती दिखाई दे ही जाती है। उनका व्यक्तित्व कुछ इस प्रकार का है कि उन्हें कहीं भी बिठा दिया जाय, कोई समझदार प्राणी उनकी उपेक्षा करके नहीं जा सकता। अत्यन्त गम्भीर विचारक होने पर भी वे एकदम अकृत्रिम ढंग से मिलतीं और व्यवहार करती हैं। इस से उनके व्यक्तित्व के प्रति एक प्रकार की प्रगाढ़ आदर-भावना जागरित होती है।

कवि के जीवन को निकट से जानना आलोचक के लिये सदैव सम्भव नहीं होता। जिस कवि की प्रतिभा से आकृष्ट होकर वह अपनी लेखनी उठाता है वह उसके बहुत पहिले, कभी-कभी शताब्दियों पूर्व अपनी लोकयात्रा समाप्त कर चुका होता है। कभी-कभी आलोचक कवि के युग में रहते हुए भी उसके व्यक्तित्व के विश्लेषण की ओर चेष्टावान नहीं होता यदि कवि की कृतियों में उस समय तक इतनी प्रौढ़ता नहीं आई है जितनी एक आलोचक की दृष्टि को आकृष्ट करने के लिए यथेष्ट हो। आज महादेवी-जी को जानने के लिए इन दोनों व्याघातों में से एक भी नहीं है। यद्यपि अभी उनके जीवन के उस मध्याह्न का आरंभ ही हुआ है जो अपने में भविष्य की अनेक भव्य सम्भावनाओं को छिपाये है; पर इतने ही अल्पकाल में अपनी विस्मयकारिणी प्रतिभा के

बल पर उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में एक चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। यह सब कुछ होने पर भी जहाँ वे हैं वहाँ के जीवन में इतनी लीन और उससे इतनी तुष्ट-सी हैं, या बाहर से इतनी असन्तुष्ट हैं, कि जो व्यक्ति किसी साहित्यिक-समारोह में उन्हें देखने की आशा से उन तक न जा सके वह अपनी आशा को लिये ही बैठा रहेगा। बाहर जाने की वे अभ्यासी नहीं हैं। हो सकता है कि बाहर जिस सुरुचिपूर्ण शांत संयत वातावरण की वे कल्पना करती हों वह हिन्दी में अभी उन्हें न दिखाई देता हो, और यह भी सम्भव है कि वे अपने अन्तर की गहराई में इतनी उतर गई हों कि बाहर की हलचल उनके लिए एकदम व्यर्थ और सारहीन हो उठी हो।

महादेवी जी का जीवन व्यस्त है और उनके क्षण अमूल्य। तारों का दुकूल ओढ़कर जब यामिनी उनके द्वार से झाँकती दिखाई दी तब मैं उठ पड़ा। बाहर सचेत प्रहरी-से वृक्ष नत-शिर खड़े थे। माघ की कृष्णा नवमी धीरे-धीरे घिरती आती थी। विदा करते समय कवयित्री ने कहा 'बाहर चारों ओर अँधेरा है, सँभलकर चलियेगा।' मैंने सुना और अनुभव किया जैसे ये शब्द अनायास ही उस स्थिति के, उनके व्यक्तित्व के और उनके सन्देश के परिचायक हों! अपने निवास-स्थान के सात्विक वातावरण की कोमल शिला पर अधिष्ठित प्रकृति-संगिनी से सेवित यह भावमयी तपस्या क्या यही शाश्वत गूँज छोड़ने तो यहाँ नहीं आई—'बाहर चारों ओर अँधेरा है, सँभलकर चलियेगा!' उसकी दृष्टि ने 'नीहार' को पारकर 'रश्मि' के दर्शन किए हैं, उसकी प्राण—'नीरजा' ने 'सान्ध्य-गीत' गाए हैं, और उसके उदार करों ने अन्धकार को चीरने के लिए 'दीपशिखा' प्रज्ज्वलित की है। अपने काँटों से भरे पथ के सजल अनुभव के एक-एक अक्षर से वह यह अक्षर-सन्देश

हमारे कानों, हमारे प्राणों में निरन्तर भर रही है—'बाहर चारों ओर अँधेरा है, सँभलकर चलियेगा !'

प्रयाग के दूसरे कोने में मेरे आतिथेय के उद्यान तक वाणी की यह गूँज मेरा अनुसरण करती हुई आई है और सिन्धु में सरिता-धारा के समान सदैव को चुपसे मेरे कानों में समा गई है। इस अंधकार में दूर बैठा हुआ भी मैं देख रहा हूँ कि मेरे चले आने पर महादेवी उठकर अपने साधना-कक्ष में लौट गई हैं। वह हँसी धीरे-धीरे संध्या की अन्तिम किरणों-सी जिस भू-खण्ड पर बिखरी थी उससे सहसा सिमिटकर एक गम्भीरता के गह्वर में प्रवेश कर गई है। वास्तविक महादेवी यही हैं।

मैंने उन्हें एक घण्टे भर बातें करते सुना। कानों को लगता था जैसे वे किसी रम्य प्रकृति-खण्ड में व्याप्त सन्ध्या के कुतूहल-भरे प्रशान्त एकांत कोने में किसी गम्भीर गिरि-शिखर के अन्तर से फूटनेवाले उज्ज्वल झरने का कलनाद सुन रहे हों। उस अन्तर में विचार की धारा अटूट भी पाई, निर्मल भी और नवीन भी। बीच-बीच में जब वे अधिक घने अर्थों से गुम्फित किसी वाक्य को सहज-भाव से कह जाती थीं तब मैं आँख उठाकर उनके मुख को देखने लगता था—उसी प्रकार जैसे समगति से बहनेवाला झरना एक रेले के साथ गुहा से खिंचनेवाले जल की तीव्र उमड़ से उद्गम पर उत्पन्न अतिरिक्त ध्वनि की विद्युत-द्वारा कानों को विशेष रूप से चौंकाकर पलकों को बरबश उठा जाता हो। पर उधर देखते ही मुझे ध्यान आता था 'यामा' की महादेवी का, 'दीपशिखा' की महादेवी का, 'अतीत के चलचित्र' की महादेवी का। सोचता था क्या यह वही महादेवी हैं जो अपनी

सन्ध्या की छाया में

आत्मा की लौ को प्रज्ज्वलित किये प्रतीक्षा की पलकें बिछाए बैठी हैं—उस महामहिम की मुसिकान की एक उजली धुली किरण की प्रत्याशा में ? क्या यह वही महादेवी हैं जिनके द्वार से दीनता कभी निराश नहीं लौटी ? उनका, इन महादेवी का मुख तो बड़ा सजल है, आँसुओं से भरा—भीगा। फिर इतनी हँसी वह कहाँ से उधार ले आईं ? तब क्या मैं महादेवी को नहीं देख पाया ? यदि देखा है तो फिर यह हँस कौन रहा है ?

कौन जाने ! कौन जाने !

रहस्यवाद की ओर

रहस्यवाद वैराग्य-मिश्रित अनुराग है—वैराग्य-सृष्टि से, अनुराग ब्रह्म के प्रति। किसी भी दिशा में अनुराग की सफलता के लिए उससे विपरीत दिशा में उतने ही गहरे विराग की अपेक्षा होती है। ज्यों-ज्यों अन्तर में निवसित मूर्ति के लिए स्नेह तीव्र होता जाता है त्यों ही त्यों मन चारों ओर से सिमटकर नेह-निधि को आच्छादित कर लेता है। यदि अन्य वस्तुओं के प्रति आकर्षण का प्रदर्शन होता भी है तो स्नेहपात्र के सम्बन्ध से ही। सामान्य प्रेम में कोई स्थान बार-बार स्मृति में इसलिए आता है कि वहाँ किसी के साथ बैठकर कुछ सुखद क्षण व्यतीत हुए थे। कोई वस्तु प्राणपण से सहेजकर इसलिए रखी जाती है कि वह किसी का दिया हुआ उपहार है। मैंने किसी कहानी में पढ़ा था कि स्वदेशी आन्दोलन से प्रभावित होकर एक सम्भ्रान्त कुल की महिला अपने समस्त विदेशी कपड़ों को जला डालती हैं। मूल्यवान से मूल्यवान रेशमी साड़ी वे आग की प्रचण्ड लपटों को सौंप रही हैं। इतने में एक रूमाल पर उनकी दृष्टि जाती है। मूल्य की दृष्टि से वह रूमाल उन साड़ियों के सामने कुछ नहीं है, पर सब की दृष्टि बचाकर, सिद्धान्त की हत्या करके भी वे किसी कारण से उसे छिपाने का प्रयत्न करती हैं। इस प्रकार प्रेम में वस्तुओं का मूल्यांकन शुद्ध वस्तु की दृष्टि से नहीं, भाव-दृष्टि से ही होता है। यह बात सभी प्रकार के प्रेम के लिये सत्य है। भक्ति के क्षेत्र में भी उपास्यों की स्मृतियाँ जिन स्थानों, वस्तुओं और व्यक्तियों के चारों ओर भाँवरें डाले रहती हैं उनके प्रति भक्तों के

हृदय में एक विलक्षण प्रकार की ममता रहती है। रहस्यवादी भी सामान्यतः सृष्टि की उपेक्षा नहीं करता, क्योंकि उसमें उसे अपने प्रियतम की झलक दिखाई देती है; पर प्रेम का नाता अलौकिक से होने के कारण किसी लौकिक बन्धन में न बँधना ही उसके लिए श्रेयस्कर सिद्ध होता है। अध्यात्म का क्षेत्र ही ऐसा है कि संसार के घरौंदे के साथ उसकी निरन्तर निभती नहीं। मीरा घर छोड़कर चली गई। कबीर विवाहित थे—'नारी तो हमहू करी'—पर उन्होंने भी 'जब जानी तब परिहरी।' यह दाम्पत्य-जीवन लौकिक लगाव का सबसे सीमित साथ ही सबसे प्रबल आकर्षक रूप है। इनसे हल्के रूप में मित्र हैं, सहानुभूति का आदान-प्रदान करने-वाले हैं, परिचित हैं, अपरिचित है। होता यह है कि कभी तो आध्यात्मिक-चेतना के सजग होने पर घर और बाहर का वैराग्य जाग्रत होता है, जैसे कबीर के जीवन में; और कभी घर और बाहर से निराश होने पर आध्यात्मिक स्फुलिंग दहक उठता है जैसे सूर और तुलसी के जीवन में। कोई कवि अध्यात्म की ओर झुका, यह जानकर ही हमारी बुद्धि तुष्ट नहीं होती; वह उस ओर क्यों झुका यह जानने की अपेक्षा भी हमारी उत्सुकता रखती है। और इसीलिए कवि का हृदय हमें टटोलना पड़ता है।

अपने जीवन-भर की पल-पल की हलचल का पता तो केवल कवि की आत्मा को ही होता है, दूर बैठा आलोचक उस मन का ज्ञाता बनने का दम्भ नहीं कर सकता, फिर भी उसके सामने कवि की जो कृतियाँ बिखरी रहती हैं उन्हें लेकर वह विचार कर सकता है।

कुछ व्यक्तियों में वैराग्य जन्मजात होता है, जैसे शङ्कराचार्य में। महादेवी जी के बचपन की मानसिक-स्थिति का यदि हमें कुछ

परिचय मिलता है तो उनके 'अतीत के चलचित्र' से। वैराग्य की भावना तो उनमें दृढ़ नहीं थी, पर विस्मय की भावना जो आगे चलकर उन्हें रहस्यवादिनी बनाने में सहायक हुई उनके स्वभाव में बद्धमूल थी। अपनी माँ से, जिस संसार से यह बालिका उस समय घिरी दिखाई देती है उससे और स्वयं अपने से अनेक कुतूहल-भरे प्रश्न करती हुई रहस्य की यह पुतली बड़ी हुई। उसका मृत प्राणियों को तारों में देखना इसी प्रकार का एक उदाहरण है।

आगे प्रयाग में शिक्षा का काल है। वह समय रवीन्द्र की ख्याति और अपने यहाँ नवीन धारा में योग देनेवाले प्रसाद, निराला और पन्त की कविता का था। रहस्यवाद का चलन हो चुका था। बहुत सम्भव है ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से इस वृत्ति ने इन्हें आकृष्ट किया हो और इस स्रोत में योग देने के लिए इनका मन उमड़ पड़ा हो। पर यह काल मैथिलीशरण और उपाध्याय की कविता का भी था; और फिर रवीन्द्र, प्रसाद, पन्त और निराला केवल रहस्यवादी ही नहीं थे, प्रेम और प्रकृति के कवि भी थे। राष्ट्रप्रेम के लिए पथ खुला हुआ था ही। पूछा जा सकता है कि महादेवी रहस्यवाद की ओर ही क्यों मुड़ी; प्रकृति, देश अथवा प्रणय-संगीत की ओर क्यों नहीं झुकीं? इस बात का उत्तर उनके जीवन में ही खोजना होगा।

मुझे ऐसा लगता है कि इसी बीच उन्हें कुछ सांसारिक कटु अनुभव हुए। व्यक्तिगत जीवन का प्रश्न इतना सुकोमल(delicate) है कि उस पर बहुत ही सँभलकर बोलना चाहिए, फिर भी उनके ही साहित्य के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अपनी लौकिक यात्रा में उन्हें सुख, सन्तोष अथवा विश्राम

नहीं मिला। 'रश्मि' की भूमिका में यद्यपि उन्होंने घोषणा की है:

"संसार साधारणतः जिसे दुःख और अभाव के नाम से जानता है वह मेरे पास नहीं है। जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है; उस पर पार्थिव दुःख की छाया नहीं पड़ी। कदाचित् यह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगने लगी है।"

कोई भी व्यक्ति उनके साथ भारी अन्याय करेगा यदि अकारण ही इस बात को अमान्य समझे। पर क्या 'शृङ्खला की कड़ियाँ', 'अतीत के चलचित्र' और 'नीहार' की महादेवी स्वयं अपनी इस 'कदाचित् प्रतिक्रिया' के विरुद्ध प्रमाण उपस्थित नहीं करतीं? 'शृङ्खला का कड़ियाँ' में जहाँ उन्होंने नारी की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, गार्हस्थ्य महापरतन्त्र, विवश, दयनीय स्थिति का चित्रण किया है वहाँ क्या अपने मन का कोई क्षोभ कहीं नहीं है? ऊपर जिस दुलार और आदर की चर्चा उन्होंने की है वे बच्चों और बुड्ढों को बहलाने के खिलौने हों तो हों, प्राणी उनसे नहीं बहलाया जा सकता। दुलार, आदर यहाँ तक कि जिस वस्तु को प्यार कहते हैं जब वह भी अपात्र अथवा उथले पात्र की ओर से मिलता है या अन्धा अथवा विवेकहीन होकर आता है तब सुख तो क्या सन्तोष भी नहीं मिलता। और असन्तोष जीवन की सबसे क्रूर शोषण-शक्ति है। भावना-प्रधान व्यक्ति, विशेष रूप से सूक्ष्म-चेतना-सम्पन्न प्राणी की आकुलता यह नहीं होती कि उसे शरीर का सुख नहीं मिला। शरीर वास्तविक कलाकार की चिन्ता का बहुत ही नगण्य अंश होता है। पर उसके जीवन की सबसे बड़ी घातक-स्थिति (tragedy) होती है यह कि जिस धरातल पर अपनी बुद्धि और मन को लेकर वह विचार परिवर्तन या भाव-विनिमय करना चाहता है उस धरातल पर उसे

सहानुभूतिपूर्वक समझनेवाले प्राणी प्रायः नहीं मिलते। हाँ, उसकी ओर आँख फाड़कर देखनेवाले पिंडों की कभी कमी नहीं रहती। अपने संबन्ध में महादेवीजी ने जितना कहा है उसी को लीजिये। 'चलचित्र' के सभी संस्मरणों में चाहे वहाँ रामा जैसा कुरूप और अलोपी जैसा नेत्र-विहीन नौकर हो, चाहे मारवाड़िन, बिन्दो और बिट्टो जैसी विधवाएँ, चाहे सबिया महतरानी, रधिया कुम्हारिन और लछमी पहाड़िन हों और चाहे घीसा जैसा दीन-छात्र—सभी पर 'महादेवी' की सजल ममता बरसी ही है, पर स्वय इस वरदानमयी को इन सबसे क्या मिला? इनमें से एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं है कि जिसे इतना ज्ञान तक हो कि जिस प्राणी के वात्सल्य और करुणा के हम आलम्बन हुए वह कितनी महान् है? और ऐसी दशा में जैसे वे दुखी मनुष्यों के दुःख को अपनी ओर से भी प्रयत्न करके समझती, बँटाती तथा कम करती रहीं, उनकी पीड़ा को भी किसी ने समझने क्या, जानने तक का प्रयत्न किया? पर 'चलचित्र' के पात्रों की ओर से सम्भवतः यह सफ़ाई पेश की जाय कि 'देवी' तो सुख-दुःख से परे होती है और 'महादेवी' तो और भी!

नीचे के वाक्यों से उनके 'बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है' का सामंजस्य घटित कीजिए—

१. ममता के धरातल पर सुख-दुःख का मुक्त आदान-प्रदान यदि मित्रता की परिभाषा मानी जाये तो मेरे पास मित्र का अभाव है।

२. रहा दुःख का प्रकटीकरण—सो उसका लेशमात्र भी भार बनाकर किसी को देना मुझे अच्छा नहीं लगता।

३. पढ़ना समाप्त करते ही मैंने-स्वयं अनेक विद्यार्थिनियों को

चिंता करने का कर्त्तव्य स्वीकार कर लिया, अतः मुझे हठ कर खिलाने-वाले व्यक्तियों का अभाव ही रहा है।

ये उदाहरण 'अतीत के चलचित्र' के अन्तिम संस्मरण के हैं जो २८ अगस्त १९१९ को महादेवीजी की ३२ वर्ष की अवस्था में लिखा गया।

उनका दुःख कितना ही गहन हो उसे मूर्तरूप देने का हल्का-पन उन्होंने नहीं किया। उनकी किसी रचना में किसी के प्रति व्यक्तिगत आक्षेप, खीज, निराशा और उपालम्भ के चिन्ह नहीं। क्षुब्ध होकर भी यह जीवन सदैव शान्त ही रहा। पर उन्हें ठीक से संसार ने समझा नहीं, उपेक्षित ही रखा, यह 'नीहार' की कमसे कम एक रचना से अवश्य झलकता है। सूखे सुमन वाली कविता अन्त में आकर एक प्रकार से व्यक्तिगत हो उठी है—घोर निराशा और पछतावे से पूर्ण—

मत व्यथित हो फूल ! किसको
सुख दिया संसार ने ?
स्वार्थ-मय सबको बनाया—
है यहाँ करतार ने !

कर दिया मधु और सौरभ
दान सारा एक दिन,
किन्तु रोता कौन है
तेरे लिए दानी सुमन ?

अब न तेरी ही दशा पर
दुख हुआ संसार को,
कौन रोएगा सुमन
हमसे मनुज निःसार को ?

महादेवी की बुद्धि 'शृङ्खला की कड़ियों' में, आत्मा गीतों में और हृदय 'अतीत के चलचित्र' में निहित है। काव्य-स्रष्टा के रूप में आज वे कितनी ही महान् हों, पर एकदिन वे नारी थीं और मूलतः आज भी वे नारी हैं। अक्षय सौन्दर्य के आकाश में उड़कर भी वे 'चलचित्रों' के ठोस धरातल को नहीं छोड़ सकी हैं। महादेवी न जाने कितने युगों की पूर्ण सजग महिला कलाकार हैं। उनके अन्तर में जो 'महानारी' बैठी है उसको 'विवशता' शृङ्खला की कड़ियों में, 'ममता' अतीत के चलचित्रों में और 'मधुरता' यामा और दीपशिखा के गीतों में प्रकट हुई है। बचपन से ही उनमें इस विश्व के प्रति एक विस्मय-भावना छिपी थी। बड़ी हुईं तो कुछ पहिले से बहती हुई रहस्य-भावना से उनका परिचय हुआ। उनके युग की परिस्थितियाँ भी उनके अनुकूल पड़ीं। धर्म में आर्यसमाज के प्रभाव ने पश्चिम के विज्ञानवाद और नवीन बुद्धि-प्रधान शिक्षा के सहयोग से अवतारवाद की भावना को शिक्षित हृदयों में शिथिल किया। स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ के वेदान्त-सम्बन्धी व्याख्यानों की गूँज मानो रहस्यवाद की पृष्ठभूमि बनने के लिए ही उठी थी। पूर्वदिशा में रवि ने अलौकिक प्रखर रहस्यमयी किरणें उस समय विकीर्ण कर ही दी थीं। पहिले अपने अन्तर का कुतूहल लेकर महादेवी खड़ी हुईं। इधर संस्कृत के दार्शनिक ग्रन्थों ने उन्हें इस दिशा में प्रोत्साहित किया। बीच-बीच में संसार का जो असुखद अनुभव उन्हें हुआ उसका प्रतिवर्त्तन अतीव वेग से उन्हें रहस्यवाद की ओर ले गया।

इस बात पर किञ्चित् आश्चर्य होगा कि जो कार्य प्रसाद, निराला और पन्त ने बड़े आवेश से उठाया था उनके उस ओर से विमुख होनेपर भी महादेवी ने उसे अकेले सँभाला और आज भी

उस पथपर उनकी धीर पद-चाप सुनाई दे रही है। कारण खोजने दूर नहीं जाना होगा। पन्त, प्रसाद और निराला तीनों अध्यात्म-वादी होते हुए भी हृदय से शृङ्गारी हैं। यह बात पंत की युगांत की 'मंजरित- आम्रद्रुम-छाया' वाली रचना से, निराला की होली वाले गीत से और प्रसाद की अनेक स्थलों से स्पष्ट हो जाती है। परिणाम स्वाभाविक था कि वे अंत तक रहस्यवादी नहीं रह सके जो पक्षी सीसे का टुकड़ा पङ्खों में फंसाकर उड़ेगा वह कब तक उड़ सकता है? महादेवी का मन लोकसत्ता से एकदम विच्छिन्न हो ऐसा नहीं। अतीत के चलचित्रों में उनके अंतर की उदारता लोक की ही पीड़ा को अपनी स्थिति और शक्ति के अनुसार कम करने में लग्न हुई है। पर महादेवी मे ऐसा कहीं नहीं है जो विकृत हो। जो लोग आत्मा में विश्वास नहीं करते वे उनके मन को ही किसी अनुपात में विभाजित करके देखें, पर पायेंगे यही कि मन के जिस अंश से वे अध्यात्म का चिंतन करती हैं वह हीरे के समान एकदम उज्ज्वल है। उस साधना-प्रदेश में किसी लौकिक मूर्ति का झाँकना तक वर्जित है। कोमल से कोमल लौकिक भाव के लिए वहाँ एक ही उत्तर है—

लौट जा, ओ मलय-मरुत के झकोरे!

रहस्यवाद की ओर ले जाने वाली महादेवीजी को आकुलता के मूल मे कुछ भी रहा हो, एक दृष्टि से अच्छा ही है। बिना निर्दयता से मन के सपनों के टूटे आजतक कोई महान् कलाकार हुआ भी है?

विरोध

My song, I fear that thou will find but few
Who fitly shall conceive thy reasoning,
Of such hard matter dost thou entertain;
Whence, if by misadventure, chance should bring
Thee to base company (as chance may do),
Quite unaware of what thou dost contain,
I prithee, comfort thy sweet self again,
My last delight! tell them that they are dull
And bid them own that thou art beautiful.

Epipsychidion—Shelley.

रहस्यवाद का विरोध किसी न किसी कारण से उसके जन्म-काल से ही होता आया है। ऐसी दशा मे भी उसका पल्लवित होना उसका सौभाग्य, उसकी शक्ति अथवा उसकी सत्यता ही है।

सबसे पहिले उसका विरोध अज्ञान के कारण हुआ। जिस स्थूलता और प्राचीनता में जनता जकड़ी हुई थी उससे मुक्त होना नहीं चाहती थी। प्राचीन भाषा, प्राचीन छन्द, प्राचीन भाव, प्राचीन अभिव्यक्ति, प्राचीन काल—सभी प्रकार की प्राचीनता की उपासना चल रही थी। ब्रजभाषा प्यारी थी, कवित्त-सवैये प्यारे थे, शृङ्गारिक वर्णन प्यारे थे, चमत्कारिक उक्तियाँ प्यारी थीं, राधा-कृष्ण प्यारे थे। इसके बाहर कुछ प्यारा न था। ब्रजभाषा जैसी मिठास किसी बोली में नहीं मिल सकती थी। कवित्त-सवैये के साँचे ही छन्दों के पूर्ण साँचे समझे जाते थे। जो वर्णन रस-सागर

में हुआ न दें वे वर्णन कैसे ? समय ने पलटा खाया। भाषा-परि-वर्तन हुआ, छन्द-परिवर्तन हुआ, भाव-परिवर्तन हुआ और अभि-व्यक्ति में परिवर्तन हुआ। पर एक ही दिन में भाषा में माधुर्य भरना, छन्दों में सुडौलता लाना, भावों को स्थायित्व प्रदान करना, अभिव्यक्ति में स्पष्टता लाना, सम्भव नहीं होता। हुआ यह कि प्राचीन-पंथियों ने खड़ी बोली का, नवीन छंदों का, रहस्यवाद का, लाक्षणिक प्रयोगों का विरोध आरंभ कर दिया। उस विरोध में नासमझी की जो बातें मुख से निकलीं उनका ज्ञान आज केवल वायु को होगा। नवीनता का विरोध करने के लिए जो लेख लिखे गए उनके पन्ने मैं समझता हूँ पंसारियों के मसाले या वैद्यों की पुड़िया बाँधने के काम आ चुके होंगे। इस प्रकार का विरोध एक-दम कम हो गया हो ऐसा नहीं है। कामायनी की मार्मिक आलो-चना करते हुए एक विद्वान् ने अभी लिखा है—

"प्रसादजी की इस कृति में गाने—समझने लायक कितने पद्य भरे पड़े हैं यह अपनी रुचि का विषय है। कुछ वाक्य ऐसे हैं जिन्हें हम समझ न सके (छायावाद मैं कम समझता हूँ) जैसे 'व्यथा गाँठ निज खोलो' इत्यादि।"

अज्ञता-प्रदर्शन के उपरांत दूसरा आक्रमण विद्वत्ता का हुआ। इस सम्बन्ध में सबसे प्रबल प्रहार पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'काव्य में रहस्यवाद' की कृपाण से किया। यह पुस्तक उनकी बहुत बड़ी खीझ, झुँझलाहट और आवेश का परिचय देती है। इसमें पूर्व और पश्चिम के कुछ वादों जैसे सर्ववाद, प्रतिबिम्बवाद, लोकादर्श-वाद, प्रत्ययवाद, प्रभाववाद, अभिव्यंजनावाद, प्रतीकवाद, स्व-च्छन्दतावाद आदि पर कुछ व्याख्यान हैं जो स्वतन्त्र से लगते हैं; कुछ रस, अलङ्कार, छन्द, भावुकता, कल्पना, मूर्त्त, अमूर्त्त पर

टिप्पणियाँ; थोड़े श्लोक, ईट्स, वर्ड्सवर्थ, शैली के काव्य से उदाहरण; साथ ही पंडित जी की दृष्टि से जो आज तक के लेखकों के वर्णनों में कमियाँ रह गई हैं उनका उल्लेख—जैसे 'मनुष्यों के वृत्त के साथ मिला हुआ किसी कुत्ते बिल्ली आदि' का वृत्त होना चाहिए। आधुनिक हिन्दी कवियों में से किसी एक का नाम नहीं, किसी के काव्य से उद्धरण नहीं, किसी के गुण-दोषों का सहानुभूतिपूर्वक विवेचन नहीं। भारतीय रहस्यवाद के मूल आधार, उसके विकास, उसकी स्थितियों आदि का कोई विवरण इस 'काव्य में रहस्यवाद' में नहीं। तात्पर्य यह है कि यह निबंध, जैसा इसके नाम से धारणा बँधती है, रहस्यवाद के सम्बन्ध में कोई पूर्ण और व्यवस्थित विचारधारा उपस्थित नहीं करता। यहाँ वहाँ अपने को रहस्यभावना का विरोधी न घोषित करते हुए भी उन्होंने जिसे 'साम्प्रदायिक रहस्यवाद' कहा है उसका घोर विरोध स्वयं साम्प्रदायिक कट्टरता से किया है। उनके शब्दों से ऐसा आभास मिलता है जैसे वे सद्भावना से प्रेरित होकर इस निबंध को लिख रहे हैं, पर सद्भावना और विद्वत्ता दोनों उनके संस्कारों से शासित हुई हैं। वही 'नर में नारायण' की उपासना सर्वोपरि, वही 'शक्ति-शील और सौन्दर्य' तीनों विभूतियों का दिव्य समन्वय काव्य का एकमात्र आदर्श; और सब कुछ रूढ़ि, विदेशी, नकल, आलस्य, असत्य, अकर्मण्यता, पाखण्ड !

शुक्ल जी का कहना है कि उपासना के लिए इन्द्रिय और मन से परे ब्रह्म को पहिले ईश्वर के रूप में मन के पास लाया गया। कहीं इससे आगे बढ़कर विष्णु, शिव इन देवरूपों में—अर्थात् मनुष्य से ऊँची कोटि में—बाह्य-करण-ग्राह्य भावना भी हुई। भारतीय भक्ति-भावना यहीं तक तुष्ट न हुई। बड़े साहस के साथ

आगे बढ़कर उसने 'नर में ही नारायणत्व' का दर्शन किया। यहाँ ब्रह्मवाद से ईश्वरवाद, ईश्वरवाद से त्रिदेववाद और त्रिदेववाद से अवतारवाद तक जनता के आने में] शुक्ल जी को जो 'साहस के साथ आगे बढ़ना' दिखाई दे रहा है वहाँ हमें तो स्पष्ट ही यह लगता है कि सूक्ष्मता से जनता की भावना बराबर स्थूलता की ओर बढ़ी है। यदि इस क्रम को हम उलटना चाहें तो कह सकते हैं कि अवतारवाद बहुत ही स्थूल बुद्धिवालों के लिए है। उससे कम स्थूल बुद्धि वालों के लिए त्रिदेववाद है। ईश्वरवाद और भी सूक्ष्म बुद्धि की अपेक्षा रखता है, और ब्रह्मवाद तो अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि से ही नहीं अनन्त जन्मों के संचित पुण्यों से प्राप्त अत्यन्त सात्विक संस्कारों से ही 'विषय' किया जा सकता है। उनकी बात से ही बिना प्रयत्न हमारी यह बात सिद्ध होती है कि ब्रह्मवाद पर चलनेवाला रहस्यवाद उपासना का सूक्ष्माति सूक्ष्म साधन है।

इस निबन्ध में उनका एक बहुत बड़ा तर्क यह है कि 'अज्ञात और अव्यक्त के प्रति केवल जिज्ञासा हो सकती है, अभिलाषा या लालसा नहीं।' यहाँ अज्ञात शब्द भ्रमोत्पादक है। इस शब्द का प्रयोग उन्होंने इस कौशल से किया है कि पाठक शब्द के सामान्य अर्थ में उलझकर उनकी बात को चुपसे स्वीकार कर लेता है। अज्ञात का तात्पर्य इतना ही है कि रहस्यवादियों का उपास्य राम-कृष्ण की भाँति स्थूल शरीरधारी नहीं है। रहस्यवादी 'सगुण निराकार' के उपासक होते हैं। शुक्ल जी ने उसी को ईश्वर कहा है। अब, ईश्वर के रूप की कल्पना भी कल्पना ही है। मनुष्य ने अपने शरीर के अनुरूप ही कुछ घटा बढ़ा कर उसकी कल्पना नहीं की, विभिन्न धर्मों के अनुसार भी उसमें परिवर्तन किया है। एक विचारक ने तो व्यंग्य में यहाँ तक

कहा है कि हिन्दू मुसलमान ईसाई आदि ने अपनी-अपनी धारणा के अनुरूप जो ईश्वर के रूप की कल्पना की है, यदि पशु-पक्षियों में भी कल्पना की यह शक्ति हो, तो बिल्ली ईश्वर को एक सुन्दर बिल्ली, और ऊँट ईश्वर को एक लम्बा ऊँट समझता होगा। 'भाव के पूर्ण परिपाक के लिये आलंबन की निर्दिष्ट भावना आवश्यक है।' पर कौन कहता है कि रहस्यवादियों की भावना निर्दिष्ट नहीं होती ? यह दूसरी बात है कि उस निर्दिष्टता का सम्बन्ध श्यामशरीर, काकपक्ष, रामानन्दी तिलक अथवा पीताम्बर, मुरली, गोपियों, नवनीत और पथ की छीना-झपटी तथा तट की क्रीड़ाओं से नहीं है।

मनोरंजन की बात यह है कि रहस्यवाद के विरोध और भक्ति की पुष्टि के लिये आचार्य शुक्ल ने अपने ढंग से जगत को ही 'नित्य' और 'आनन्दमय' सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। कारण यह है कि बुद्धि की सारी विह्वलता 'अनित्य' से छुटकारा पा 'नित्य' की ओर तथा 'दुःख' से मुक्त हो 'आनन्द' की ओर जाने की है। यदि यह जगत ही 'नित्य' और 'आनन्दमय' सिद्ध हो जाय तो फिर सारी झंझट ही मिट जाय। शुक्ल जी ने लिखा है, "सारा वाह्य जगत भगवान का व्यक्त स्वरूप है। समष्टि रूप में वह 'नित्य' है, अतः 'सत्' है; अत्यन्त रंजनकारी है, अतः 'आनन्द' है।" यह भाषा की विजय है अथवा सत्यान्वेषण की ? यदि जगत ही सच्चिदानन्द-स्वरूप होता तो ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहने की आवश्यकता नहीं थी। यदि जगत ही 'सत्' और 'आनन्द' होता तो प्राचीनकाल में ऋषियों की वह दीर्घ परम्परा न चलती। यदि जगत ही 'रंजनकारी' होता तो सम्राट् वैभव को लात मारकर तत्त्व-चिंतन के लिये न निकलते। तत्त्व-दर्शियों ने

तो उस स्थिति की भी घोषणा कर दी है जहाँ उस 'असग' के सम्बन्ध में कुछ कहते ही नहीं बनता, जहाँ साधक अनुभवकर्त्ता न रहकर अनुभूतिमात्र रह जाता है। अतः यह समझ रखना चाहिये कि जगत के स्वरूप का मूल्य स्पष्ट घोषित करने के लिये उसे सच्चिदानन्द कहा गया है। जगत् 'असत्' है—वह 'सत्' है, जगत् 'जड़' है—वह 'चिद्' है, जगत 'दुःखमय' है—वह 'आनन्दमय।'

एक बहुत दृढ़ भावना उनके हृदय में यह जमी प्रतीत होती है कि अपनी दीर्घ परम्परा के कारण भक्ति-भावना ज्ञान से श्रेष्ठ है। ज्ञान की परम्परा भी उतनी ही प्राचीन है जितनी भक्ति की। रही रहस्यवाद की परम्परा। वह यद्यपि बँधकर नहीं चली, पर इससे उसकी श्रेष्ठता में बट्टा नहीं लग सकता। सूक्ष्मता को निरन्तर ग्रहण करना सहज नहीं है।

जिस प्रकार 'जिज्ञासा' और 'लालसा' का तर्क उन्होंने रहस्यवाद के सम्बन्ध में दिया है, यदि उसी प्रकार के तर्क हम अवतारवाद के सम्बन्ध में उपस्थित करें और पूछ बैठें कि एकदेशीय प्राणी राम 'ब्रह्म चिन्मय अविनाशी' कैसे हुए तो भक्तों के पास क्या उत्तर है? 'दशरथ नन्दन' 'विधि हरि शम्भु नचावनहारे' कैसे हुए तो 'भावना' अथवा 'आस्था' को छोड़ क्या कोई और तर्क सम्भव है? 'रहस्यवाद' को शुक्ल जी साम्प्रदायिक बतलाते हैं। राम और कृष्ण की उपासना क्या है? साम्प्रदायिक नहीं है, क्या? क्या सभी जातियाँ राम और कृष्ण को उस रूप में ग्रहण करती या कर सकती है जिसमें तुलसी और सूर ने उन्हें अङ्कित किया है? अवतारवाद क्या रहस्यवाद की व्यापकता को कभी छू भी सकता है?

विरोध

विद्वत्ता के उपरान्त अब कुछ दिन से आक्रमण हुआ है विद्वेष का। मेरा तात्पर्य प्रगतिवादियों से है। प्रगतिवाद रहस्यवाद का स्वाभाविक विरोधी है, क्योंकि दोनों के आधार दो विरोधी कोटि के हैं। प्रगतिवाद घोर भौतिकवाद पर आश्रित है और रहस्यवाद अद्वैतवाद पर जो भौतिकवाद को अत्यन्त निकृष्ट सिद्ध करता है। जैसा स्वयं एक प्रतिष्ठित भौतिकवादी का कहना है अध्यात्मवाद और भौतिकवाद में विरोध ही इस बात पर है कि अध्यात्मवादी प्रकृति से पूर्व एक महाचेतना की सत्ता मानते हैं और भौतिकवादी यह मानते हैं कि चेतनता प्रकृति के बाद ही उत्पन्न हुई। ऐसी स्थिति में यदि प्रगतिवादियों की यह धारणा होगयी हो कि बिना रहस्यवाद का विरोध किये उनका 'वाद' पनप नहीं सकता, तो कोई आश्चर्य नहीं। पर भारत में जब तक कोई ऐसा भौतिकवादी उत्पन्न नहीं होता जिसकी बुद्धि विशाल भारतीय दार्शनिक वांग्मय से टक्कर ले सके तब तक न ब्रह्मवाद नष्ट हो, न रहस्यवाद।

शुक्ल जी ने रहस्यवाद का विरोध करते हुए भी ईश्वर को बना रहने दिया, पर प्रगतिवादी इस सीमा तक प्रगति कर गये हैं कि ब्रह्म का अस्तित्व ही नहीं मानते। ईश्वर-विश्वास को तो वे जनता का मस्तिष्क विकृत करने वाला 'अफीम का नशा' समझते हैं। इस प्रकार प्रगतिवाद के साथ अकल्याणकर अनीश्वरवाद आ रहा है। जहाँ संसार और शरीर को सब कुछ समझा जाता है वहाँ जड़वाद स्वाभाविक रूप से आ ही जाता है। धर्म में चार्वाक मत बहुत पहिले अपनी असफलता देख चुका है, काव्य में उसे यदि वही असफलता फिर देखनी है तो कोई चिन्ता नहीं।

वैसे साहित्य सतत विकासोन्मुख है और 'विकास' तथा 'प्रगति' एक ही भाव के दो शब्द होने से हमें इस निश्चय पर पहुँचाते हैं कि प्रगति साहित्य का एक स्थायी विशेषण है। अर्थात् नदी की धारा की भाँति साहित्य की भावधारा समय की ढलकाऊ भूमि पर सतत गतिमयी, विकासमयी और प्रगतिमयी होती है। हिन्दी-साहित्य को ही देखें तो वह एक ही प्रवृत्ति में बँधकर कभी नहीं रहा। कभी वह वीरगाथाओं को लेकर चला, कभी अज्ञात शक्ति की जिज्ञासा को, कभी राम-कृष्ण के झिलकते मंगलमय स्वरूप को, कभी नारी के बाह्य आकर्षक रूप को, कभी आत्मा की आकुलता को और अब दलितों के दुःखी जीवन को। सुधार से भी उसका विरोध नहीं रहा। हमारे यहाँ कबीर और तुलसी महान् सुधारक होगये हैं। पर कबीर और तुलसी लोक-कल्याण की चिन्ता में भी काव्य में आत्मचिंतन को नहीं भूले थे। हम तो यही मानते हैं कि हमारे काव्य में जो सत्य, जो स्वस्थ, जो सुन्दर है वह सब हमारे प्राणों का परिष्कार करने वाला है, सब हमारा है। वह प्रगतिवाद में हो तो, रहस्यवाद मे हो तो। हम किसी वाद विशेष के उपासक नहीं, सत्य के उपासक हैं। पर जब प्रगतिवाद के नाम पर कोई महादेवी की रचनाओं में 'क्षयरोग के कीटाणु' देखता है अथवा 'प्रसाद' को प्रतिक्रियावादी कहता है तब कोई और उत्तर न देकर केवल इतना चाहते हैं कि कामायनी के महान् स्रष्टा अथवा व्याकुल प्राणों की इस अमर गायिका जैसी प्रतिभा का कोई कवि प्रगतिवाद के क्षेत्र में भी देख पाते।

प्रगतिवाद मार्क्सवाद का साहित्यिक संस्करण है; अतः मार्क्सवाद की जो भलाइयाँ-बुराइयाँ हैं वे प्रगतिवाद में आज

नहीं तो कल आयेंगी। अभी मजदूर और किसानों के प्रति सहानुभूति और पूँजीपतियों के प्रति काव्य में रोष प्रकट होरहा है—शोषक शोषित की समस्या चल रही है। यह स्थिति शुभ है। सामूहिक मंगल भला किसे अप्रीतिकर होगा? पर इसके उपरान्त वैवाहिक बंधन कुछ नहीं है, परिवार कुछ नहीं है, देश कुछ नहीं है, धर्म कुछ नहीं है और ईश्वर कुछ नहीं है को वे अभ्रभेदी ध्वनियाँ भी गूजेंगी जो केवल अपने कर्कश कोलाहल में जीवन के बहुत से मधुर और श्रेयमंडित स्वरों को दबाने का प्रयत्न करेंगी।

श्री० एम० एन० राय ने एक स्थान पर अत्यन्त स्पष्टता और निर्भीकता से लिखा है कि यूरोप में भी जहाँ के मार्क्स रहने वाले थे, परिवर्तन ठीक उसी प्रकार से नहीं हुआ जैसी मार्क्स ने कल्पना की थी, फिर भारत के विषय में उनकी धारणाओं को अचूक समझना पागलपन होगा। विवश होकर उन्हें यहाँ तक लिखना पड़ा:—

But it pains me that many are not realising the far reaching implications of Marxism. They don't take pains to understand and study Marxism, but simply behave like parrots, reading a few books and repeating phrases learned by heart. And every body who does not repeat those phrases literally, is a counter-revolutionary.

यह सभी अर्द्ध-शिक्षित नवयुवकों को उन्हीं के एक मन्त्रदाता की चेतावनी है। जैसा राय महोदय की बातों से झलकता है यदि मार्क्स सत्य के सम्बन्ध में अन्तिम बात कहने

नहीं आये थे तब हमें उनकी बातों का अंधानुकरण नहीं करना चाहिये। यदि १९वीं शताब्दी में एक मनीषी द्वारा सत्य की घोषणा हो सकती थी तब उपनिषद् काल में भी यही सम्भावना थी। और यदि इस बात पर हठ हो कि १९वीं शताब्दी उपनिषद् काल से अधिक विकसित शताब्दी थी, तब विकास का पथ अभी रुक नहीं गया है। अतः भौतिकवाद की चकाचौंध में, क्योंकि आँखों से या दूरबीन से नहीं दिखाई देता, अतः ब्रह्म नहीं है यह बात सोच-विचार कर कहनी चाहिये।

प्रगतिवादी फलतः अभी साहित्यसेवी नहीं है। उसे हमारे साहित्य के सौंदर्य की परख तो तब हो जब अपने साहित्य से उसे ममता हो। वह एक विदेशी राजनीतिक गुट्ट का भारतीय सदस्य-मात्र है। यह गुट्ट अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए साहित्य को एक अस्त्र-मात्र समझता है, अतः उससे अधिक आशा करना व्यर्थ है। जैसे वह भारतीय राजनीति के मंच को अधिकृत करने का प्रयत्न कर रहा है, उसी प्रकार यहाँ के साहित्य को भी अपने प्रचार का साधन बनाने के प्रयत्न में सभी उपायों का अवलंब ले रहा है। पर प्रारंभ से ही उसने जिस विध्वंस की वृत्ति को अपनाया है वह उसी के लिए हानिकर सिद्ध होगी। निर्माण को छोड़कर जब कोई शक्ति केवल विरोध में दत्तचित्त होती है, तब उसकी सफलता सदैव संशयात्मक रहती है। आर्यसमाज को ही लीजिए। वह सुधार को ले कर चला था। जब तक उसने अपना वह लक्ष्य रखा, वह सफल हुआ; पर जब सनातनधर्मियों से केवल शास्त्रार्थ करने में जुट गया तब औरों के साथ अपनों को भी उसने शत्रु बना लिया और हाँफ कर बैठ गया। परास्त

इसलिए हुआ कि सिद्धान्तों की जो अमूल्य निधि उसके सजातियों के पास युग-युग से संचित थी उसका एक कण भी उसके पास न था। इसमें तो कुछ कहना नहीं कि किसी वाद की सफलता उसके समर्थकों की शक्ति पर निर्भर करती है। राजनीति में इस समय भारत की श्रेष्ठतम चेतनाएँ (best intel-lect) अहिंसावादी हैं, और इस युग की साहित्यिक चेतनाएँ उज्ज्वल भारतीयों के चरित्रों के निर्माण की ओर, राष्ट्रप्रेम की ओर, मानवता के विश्लेषण की ओर और रहस्यवाद की ओर बह रही हैं। वर्तमान राजनीतिक परिधि से दूर होकर दो एक राजनीतिज्ञों ने अपने अपने पथ के निर्माण करने की असफलता देख भी ली है। इससे हम किसी को छोटा बड़ा कहना नहीं चाहते, पर जो आगे आवे वह कोई ठोस सुझाव लेकर तो आवे। केवल किसी जीवित शक्ति की 'शव परीक्षा' करने से तो काम नहीं चलता। यही बात साहित्य के लिए लागू होती है। एक ओर प्रगतिवाद के नाम पर हिन्दी में जो आ रहा है वह निश्चय ही रूखा, अरुचिकर और निःशक्त है और दूसरी ओर हम तुलसी, प्रसाद, महादेवी और मैथिलीशरण से विरोध करना चाहते हैं—उनकी शक्ति को परखे बिना!

कैसे पश्चात्ताप की बात है कि लोक-कल्याण की कामना का दम भरने वाला व्यक्ति इतने विकृत रूप में अपना हृदय उड़ेल रहा है? कितनी पीड़ा की बात है कि जर्जर रूढ़ियों को छिन्न-भिन्न करके मानवता की भावना को जन-मन में भरने वाला उत्साही इतनी संकुचित दृष्टिवाला हो गया है? कितने संकोच की बात है कि राजनीति और समाजनीति के ऐसे स्वस्थ दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का भार ऐसे व्यक्तियों के हाथ में दे दिया गया है जो

अपनी बात तक समझाना नहीं जानते ? और कितनी हँसी की बात है कि साहित्य में अपने अनुयायियों की गिनती गिनाने की धुन में रहस्यवाद के बड़े से बड़े कवि का अकारण तिरस्कार करता हुआ प्रगतिवाद का समर्थक अपने यहाँ के दुधमुँहे बच्चों तक की सामान्य से सामान्य रचनाओं की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा करने से नहीं हिचकता ? प्रगतिवाद के भीतर एक सत्य है, एक शक्ति है। पर उस सत्य की अभिव्यक्ति उसके अधिकारी आलोचक, और उस शक्ति की अभिव्यक्ति प्रभावशाली लेखक उत्पन्न करके ही हो सकती है। दूसरा कोई उपाय नहीं है।

उसका आलोचक अपने मुक्त पलों में इन बातों को कभी कभी सोचता है, और विवश होकर कभी हँसी के छींटों से और कभी खीझ की नोंक से सचेत भी कर ही देता है :—

"कभी-कभी स्त्रियों को स्वाधीन करने के उत्साह में वह अपने साथ ही अन्याय कर बैठते हैं। कहते हैं—'जाँघों में पौरुष भर लाओ।' यह गुण उन्हें अपने लिए ही सुरक्षित रखना चाहिए।"

—डा० रामविलास।

"यदि कोई प्रगतिशीलता के नाम पर हमारे पुराने अमर कलाकारों—वाल्मीकि, अश्वघोष, कालिदास, भवभूति, बाण, सरहपा, जायसी, सूर, तुलसी से लेकर प्रेमचन्द और प्रसाद तक—से हाथ धो लेना अपना कर्त्तव्य समझता है तो यह प्रगतिशीलता नहीं है।"' प्रगति-शीलता के नाम पर उनको अपमानित और स्थानच्युत करने का प्रयत्न एक पागलपन, एक लड़कपन के सिवा और कुछ नहीं है।"

श्री राहुल सांकृत्यायन

विरोध

मैथिलीशरण इसलिए नहीं रहेंगे कि उन्होंने बहुत लिखा है, बल्कि इसलिए कि गोपा और कैकेयी को उन्होंने जिस रूप में प्रस्तुत किया है वह भारतीय हृदय के मर्म को सदैव स्पर्श करता रहेगा। प्रसाद की कामायनी इसलिए नहीं रहेगी कि उसे उन्होंने विद्वानों के लिये लिखा है, बल्कि इसलिए कि मानवीय मनोविकारों को जिस व्यवस्थित ढङ्ग से उन्होंने एक मार्मिक कहानी के आधार पर गूँथा है उनकी सत्ता और धड़कन शाश्वत है। और महादेवी इसलिए नहीं रहेंगी कि उनके गीतों के संग्रह सजधज के साथ निकल रहे हैं, बल्कि इसलिए कि उन गीतों के प्राणों में जो विरहिणी रो रही है वह आज से दस हजार वर्ष पूर्व भी जीवित थी और आज से असंख्य वर्ष बाद भी अपनी पीड़ा में नित्य रहेगी।

रहस्यवाद ने इस प्रकार अज्ञता, विद्वत्ता और विद्वेष के त्रिशूल को सहा है। प्रगतिवादियों का विरोध ही इस समय सब से प्रबल है, जो एक प्रकार का साहित्यिक अत्याचार है। आशा है यह भी दूध का उफान सिद्ध होगा। फिर भी आश्चर्य इस बात पर अवश्य होता है कि जिन्हें हम सहृदय समझते हैं, विद्वान् कहते हैं उनमें से काव्य सौंदर्य को परखने की शुद्ध कलात्मक दृष्टि क्यों निकल गई है?

छायावाद

Then, dearest Maiden, Move along These shades
In gentleness of heart; with gentle hand
Touch—for there is a spirit in the woods.

—Wordsworth

हिन्दी में रहस्य-भावना संतकाल में ही अपना ली गई थी, परन्तु आधुनिक काल में रहस्यवाद शब्द का प्रयोग छायावाद के एक अंग के रूप में हुआ; अतः इस वाद को स्पष्टता से समझने के लिए पहिले छायावाद को समझ लेना चाहिए। साहित्य का सामान्य विद्यार्थी किसी विचारधारा के संबन्ध में अनभिज्ञ रहे यह बहुत बड़े आश्चर्य की बात नहीं है; पर समीक्षक पर एक उत्तरदायित्व रहता है। उसे अपनी बात असंदिग्ध शब्दों में आत्मविश्वास के साथ कहनी चाहिए। वह स्थिति किसी भी समृद्ध साहित्य के लिए शोचनीय होती है जब उसका आलोचक संशयात्मक संकेतों में बात करता है।

छायावाद पर पत्रिकाओं में लेख निकले हैं तब, किसी ग्रंथ के किसी अध्याय के रूप में उसकी रूप-रेखा निश्चित हुई है तब, अथवा इस विषय पर कोई स्वतंत्र पुस्तक ही प्रकाशित हुई है तब, सभी में यह बात पाई जाती है कि पहले तो इस शब्द की परिभाषाएँ इतनी शिथिल (loose) दी गई हैं कि उनमें छायावाद के अतिरिक्त और भी कुछ रख दें तो वह भी उनके पेट में अनायास

समा जाय। दूसरी बात यह है कि जो परिभाषा दी गई है वह कहती है कुछ और, और उदाहरण दौड़ लगा रहे हैं किसी दूसरी ही दिशा में। यदि ऐसा नहीं है तो फिर कैसे छायावाद की जो परिभाषा दी जाती है वही कुछ शब्द-परिवर्तन के साथ आगे के पृष्ठों में रहस्यवाद की परिभाषा हो जाती है? ऐसा नहीं है तो वाल्मीकि के मुख से निसृत प्रथम श्लोक को, रामायण की 'सिया-राम मय सब जग जानी, करहुँ प्रणाम......' भक्तिपरक चौपाई को, उपासना-पक्ष में पर्य्यवसित होने वाले विनय-पत्रिका के 'केशव कहि न जाय का कहिए' पद को किस साहस से कहीं रहस्यवाद और कहीं छायावाद के उदाहरणों में गिना जाता है? इस पद में तो स्वयं कवि ने जगत को सत्य, असत्य अथवा सत्यासत्य मानने वाले मतों को "तीन भ्रम" कहकर इसके अद्वैतमूलक होने की शङ्का तक को स्थान नहीं छोड़ा। और भला पंत की 'ग्रन्थि' और 'गुंजन' के उदाहरणों, निराला की विधवा शीर्षक रचना, प्रसाद की लहर वाली आत्म-कथा की पंक्तियों का छायावाद से क्या सबंध है जो उन्हें बिना सङ्कोच के उद्धृत किया जाता है? प्रेमपात्रियों के सौंदर्य, व्यक्तिगत निराशाओं की करुण अभि-व्यक्तियो और प्रकृति के रम्य दृश्यों के उद्धरणों का कोई भी लगाव छायावाद से है अथवा नहीं इस बात पर लेख के शरीर को अलङ्कृत करने से पहिले थोड़ा सोच क्यों नहीं लिया जाता?

हिंदी का अलोचक तो बहुत गहरा जाता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि छायावाद की जो चार-छह व्याख्याएँ की गई हैं उनमें से अधिकाँश में 'छाया' शब्द को किसी न किसी प्रकार परिभाषा में जड़ दिया गया है। 'छायावाद' की व्याख्या और 'छाया' से उसका सम्बन्ध न हो यह भी सम्भव है? कहीं छाया-

-वाद की कला छाया की भाँति परिवर्तित होती रहती है इसलिए, और कहीं किसी सप्राण छाया की झाँकियाँ विश्व की वस्तुओं में मिलती रहती हैं इसलिए,छायावाद की 'छायात्मकता' स्वत: स्पष्ट रहा करती है। जिन्होंने छाया को छोड़ दिया उन्होंने 'धुँधले' शब्द को साधा। अतीत धुँधला होता है, अत: उसमें जो विचरण करे वह छायावादी हुआ। प्रमाण ? प्रसाद ! और पंत की 'कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन वह सुवर्ण का काल......' पंक्तियाँ !

एक प्राचीन पंथी साहित्यिक से एक दिन जब मैंने पूछा कि छायावाद के संबन्ध में आपकी क्या धारणा है, तब उन्होंने अपने सीधे हाथ को गर्दन के पीछे ले जाकर बायीं ओर से नाक को पकड़ कर सिर झुकाया। मैं हँस तो पड़ा, पर मुझे लगा कि शैली की नवीनता के कारण प्रसाद, महादेवी, निराला और कुछ-कुछ पंत की दार्शनिक प्रणयानुभूति अथवा प्रकृति सम्बन्धिनी जो रचनाएँ इस प्रकार के व्यक्तियों की समझ में न आती होंगी उन्हें प्रारम्भ में छायावाद का नाम ऐसे ही व्यक्तियों द्वारा दे दिया गया होगा। जब पारिभाषिक शब्द चल पड़े और समीक्षकों ने विश्लेषण प्रारम्भ किया तब जिसके हाथ जो पड गया उसने वैसी व्याख्या के प्रचार का प्रयत्न किया। बीसवीं शताब्दी की प्रारंभिक दो-तीन दशाब्दियों का 'छायावाद-काल' नाम पड़ने से किसी-किसी ने यह सोचा कि स्थूलता विवर्जित जितनी आधुनिक कविता है उसमें चाहे सौंदर्य के वर्णन हों, चाहे प्रकृति के, चाहे करुणा के, वह सब छायावाद के अंतर्गत आती है। किसी-किसी ने इस सामग्री में से केवल मनोविकारों को छाँटा और कहा कि इनको लेकर जो गीत लिखे जाते हैं उन्हें ही केवल छायावाद से सम्बन्धित मानना चाहिए। किसी ने कहा, नहीं

छायावाद का प्रकृति से संबन्ध है। उसमें मानवीय भावों का आरोप ही इस 'वाद' की सीमा है। किसीने कहा, आत्मा और परमात्मा का प्रेम ही छायावाद है। किसी को इन दो बातों से एक नई बात सूझी। कहा—जहाँ तक चराचर के प्राणों की एकता का प्रश्न है वहाँ तक छायावाद और जहाँ इससे ऊपर उठकर जीव और परमात्मा की एकता स्थापित की जाय वहाँ रहस्यवाद मानना चाहिये। इस प्रकार आज तक छायावाद की विभिन्न परिभाषाएँ विभिन्न शब्दावली में किसी न किसी रूप में ये विचार लेकर सामने आयीं—

(१) जो समझ में न आये उसे छायावाद कहते हैं।

(२) छायावाद एक शैली है—लाक्षणिक प्रयोगों, अप्रस्तुत विधान तथा अमूर्त्त उपमानों को लेकर चलने वाली।

(३) रहस्यवाद का ही दूसरा नाम छायावाद है।

(४) सूक्ष्म भावों से सम्पन्न आधुनिक कविता को छायावाद कहते हैं।

(५) मनोविकारों (विषाद, वेदना, करुणा) की भावात्मक व्याख्या को छायावाद कहते हैं।

(६) प्रकृति में मानवीय भावों के आरोप को छायावाद कहते हैं।

छायावाद शब्द को यदि अब अधिक तिरस्कृत नहीं करना है, उसे जीवित बनाए रखना और स्पष्टता से समझना और समझाना है तथा अन्य प्रवृत्तियों से पृथक करनेवाली उसकी वृत्ति को स्वीकार करना है तब उसे एक निश्चित सीमा में बाँध देना

चाहिये। अस्पष्ट रचनाओं को छायावाद कहते हैं, यह तो परिभाषा क्या हुई दिल्लगी हुई। शैली वाली व्याख्या भी अनुपयुक्त है। लाक्षणिक प्रयोग सभी कवियों में थोड़े बहुत पाये जाते हैं। अमूर्त उपमानों का प्रयोग भी प्राचीन काल से थोड़ा बहुत होता आया है, जैसे केशव की रामचन्द्रिका में। अप्रस्तुत विधान भी रूपकातिशयोक्ति, अन्योक्ति, समासोक्ति के रूप में सूर, जायसी, दीनदयाल आदि में वर्तमान है, अतः इस व्याख्या को लेकर चलने में बड़ी गड़बड़ी फैलेगी। इसलिए नहीं कि जो कवि अब तक छायावादी स्वप्न में भी नहीं माने जाते थे उन्हें मानना पड़ेगा, बल्कि इसलिए कि छायावाद के भीतर 'वस्तु' का भाव था और 'है' और शैली तो 'वाद' विशेष का अभिव्यक्ति पक्ष है, प्राण नहीं। तीसरी व्याख्या जो रहस्यवाद को ही छायावाद समझती है स्वीकृत नहीं की जा सकती, क्योंकि फिर दोनों शब्दों में विभेद क्या रहा? पूरे आधुनिक गीति-काव्य को भी रहस्यवाद भ्रम से समझा गया है। मनोविकारों पर सूर के पदों और तुलसी की विनय-पत्रिका में पर्याप्त परिमाण में लिखा गया है। तब उन्हें भी छायावादी स्वीकार करें अथवा नहीं? केवल ऐसी विभिन्नता स्थापित करने से तो कि झरना की 'विषाद' और लहर की 'ओ री मानस की गहराई' आदि रचनाओं में मनोविकारों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और मूर्त प्रत्यक्षीकरण है, तथा सूर तुलसी में उनके विकारी प्रभावों का विवेचन है, काम नहीं चलेगा। ध्यान से देखें तो इन पाँचों उपर्युक्त व्याख्याओं के मूल में एक ही धारणा काम कर रही है—अस्पष्टता की। अस्पष्टता कोई प्रशंसनीय वस्तु तो नहीं है। फिर भी यह कहना पड़ता है कि आज जो बहुत सा काव्य अस्पष्ट काव्य के नाम से प्रचलित है जैसे प्रसाद के आँसू महादेवी जी के गीत

और निराला जी की रचनाएँ, वह हमारे मानसिक शैथिल्य का परिणाम हैं। प्राय: देखा जाता है कि जो व्यक्ति 'आँसू' या महादेवी जी की पंक्तियों को इस प्रच्छन्न आशय से लेकर आता है कि इनका अर्थ न बताए जाने पर हम महादेवी, प्रसाद अथवा निराला के प्रशंसक और समर्थक को आज उपहासास्पद करके जायेंगे वह ही जब उनका अर्थ स्पष्टता से कहीं समझ लेता है तब दुगुने अनुराग से उन कवियों का उपासक बन कर लौटता है। इससे पता यह चलता है कि दोष दोष-दर्शकों का इतना नहीं जितना उनके साथ सहानुभूति-पूर्वक बातें न करने वाले विशेषज्ञों और स्वयं छायावादी कहे जाने वाले कवियों का है। प्राय: सुना गया है कि कोई साहित्य-प्रेमी जिज्ञासा-भाव और निष्कपट-हृदय से भी किसी छायावादी कवि के पास उसकी रचनाओं के मर्म को समझने के अभिप्राय से जब गया है तब उसे यही उत्तर मिला है कि कवि का कर्म कविता करना है कविता समझाना नहीं, अथवा जिस समय यह कविता लिखी गई थी उस समय इसका अर्थ हमें स्पष्ट था अब नहीं। यह दृष्टिकोण, विशेप रूप से जब कि आज के कुछ ख्यातनामा कवि अध्यापन-कार्य में भी संलग्न हैं प्रशंसनीय नहीं है। प्रशसनीय तो यह स्थिति भी नहीं है कि किसी की रचना को न समझते ही चट पत्र-व्यवहार कर बैठे या सिर पर जा धमके, क्योंकि इससे कवि-कर्म अपमानित होता है। कवि के हृदय पर इस धारणा से बड़ा आघात होता है कि उसे समझा नहीं जा रहा। फिर भी चाहे कोई किसी कवि के पास आवे तो, किसी विशेषज्ञ के पास आवे तो उन दोनों का यह धर्म है कि उनसे जो प्रश्न किया जा रहा है उसका अपनी क्षमता के अनुसार संतोष-जनक उत्तर दें। जहां किसी को अपनी रचना

का अर्थ करना बुरा लगे वहाँ वह किसी अन्य कवि की रचना को लेकर प्रस्तुत विचारधारा को स्पष्ट कर सकते हैं। जिस देश के साहित्य में आलोचना कला का अच्छा विकास नहीं होता उसमें ऐसी स्थिति कभी कभी खड़ी हो जाती है जिसे सहन करने और सुलझाने में अगौरव नहीं समझना चाहिए।

इन व्याख्याओं में से प्रकृति में मानवीय भावों के आरोप वाली व्याख्या पर अभी कुछ नहीं कहा गया। मनुष्येतर जीवों, प्राकृतिक तत्वों और दृश्यों में भावों का आरोप तीन प्रकार से देखा जाता है, और इन तीनों में ही छायावाद नहीं होता।

(क) भवभूति के उत्तररामचरित में वनदेवी और नदियाँ अदृश्य छाया रूप में कर्मशील दिखाई देती है। 'चंद', जायसी और तुलसी (गीतावली) के तोते बोलते और बात समझते हैं। आज का वैज्ञानिक युग इस प्रकार की चेतना को अस्वाभाविकता और अलौकिकता के अंतर्गत लेता है और इस प्रकार के प्रयोगों को काव्य-सौंदर्य का बाधक मानता है।

(ख) जहाँ कवि भावों का व्याख्याता होता है वहाँ अपने अनुमान और भावुकता के अनुसार चेतना का आरोप कर लेता है। मैथिलीशरण जी की पंचवटी में प्रवेश कीजिए—

(१) पुलक प्रकट करती है धरणी
(२) मानो झीम रहे हैं तरु भी
(३) विकस उठीं कलियाँ डालों में
निरख मैथिली की मुसिकान।
(४) गोदावरी नदी का तट वह
ताल दे रहा है अब भी

(५) चंचल जल कल कल कर मानों
तान ले रहा है अब भी ।
(६) चंद्र और नक्षत्र ललक कर
लालच भरे लहकते हैं ।

(ग) एक चेतना का आरोप ऐसा होता है जहाँ वह आरोप होता ही नहीं केवल आरोप का भ्रम होता है । साकेत की यह पंक्ति लीजिए—'यह गगन-चुम्बी महाप्रासाद' । तब क्या हम इस गगन चुम्बी शब्द में चुम्बन व्यापार समझें ? नहीं ! यहाँ प्रासाद की ऊँचाई प्रदर्शित करना ही कवि का लक्ष्य है ।

वैसे प्रकृति में मानवीय भावों का आरोपमात्र भी सदैव से होता चला आया है । संयोगकाल में प्रत्येक कवि ने प्रकृति को प्रसन्न और वियोगकाल में विषादमग्ना चित्रित किया है ।

तब छायावाद क्या है ?

अच्छा यह हो कि जिस प्रकार रहस्यवाद को आत्मा परमात्मा का प्रणय-व्यापार स्वीकार किया जाय उसी प्रकार छायावाद को प्रकृति में चेतना की अनुभूति और प्रणय व्यापार मान लिया जाय । 'आरोप' और 'अनुभूति' मे जो अन्तर है उसे समझाने की अधिक आवश्यकता नहीं । फिर भी उदाहरण लीजिये—

आरोप—भूप बाग वर देखेउ जाई ।
जहँ बसन्त ऋतु रही लुभाई ॥ —तुलसी

अनुभूति—पल्लव में पन्तजी की बहुत सी रचनाएँ ऐसी हैं जहाँ प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों में चेतना की अनुभूति स्पष्ट प्रतीत

होती है। उदाहरण के लिए उनकी बसन्त श्री, वीचि-विलास, विश्ववेणु और छाया आदि रचनाएँ हैं। इनमें बसन्त-सुषमा, लहरों, वायु और छाया को उसी प्रकार से व्यवहार करते और विचार करते देखा दिखाया गया है जिस प्रकार एक प्राणी को। पन्तजी की इन रचनाओं में भी अलङ्कार विधान पर्याप्तमात्रा में है जो आरोप का रूप ले लेता है, पर प्रकृति के जिस तत्त्व को उन्होंने अंकित किया है उसे सजीव (Spirit) मानकर। यह उनकी इस प्रकार की रचनाओं को आदि से अन्त तक पढ़ने पर स्पष्ट झलक जायगा।

(अ) रूप रङ्ग, रज, सुरभि, मधुर-मधु
भर-भर मुकुलित अङ्गों में
मा ! क्या तुम्हें रिझाती है वह ?—बसन्त श्री

(आ) करतीं हम ज्योत्स्ना का लास—वीचि-विलास

(इ) हाँ, सखि, आओ, बाँह खोल, हम
लग कर गले जुड़ालें प्राण।

\+ × ×

हे सखि ! इस पावन अञ्चल से
मुझको भी निज मुख ढककर,
अपनी विस्मृत सुखद गोद में
सोने दो सुख से क्षण भर !—छाया

प्रणय-व्यापार को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं:—

(अ) प्रकृति की वस्तुओं का एक दूसरे के प्रति आकर्षण।

(आ) प्रकृति का पुरुष (ब्रह्म) के प्रति आकर्षण।

पहिले को व्यापक रूप से प्रसाद ने और दूसरे को महादेवी जी ने समेटा है:—

क—(अ) जिस निर्जन सागर में लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी,
निश्छल प्रेम कथा कहती हो। —लहर

(आ) बिखरी किरन अलक व्याकुल हो
विरस वदन पर चिन्ता-लेख
छायापथ में राह देखती
गिनती प्रणय-अवधि की रेख। —चन्द्रगुप्त नाटक

ख—(अ) सुन प्रिय की पद-चाप होगई पुलकित यह अवनी।

(आ) सखि सिहर उठती रश्मियों का
पहिन अवगुंठन अवनि

(इ) जाने किसकी स्मिति रूम-झूम
जाती मेघों को चूम-चूम ?
वे मंथर जल के विन्दु चकित
नभ को तज दुःख पड़ते विचलित !
विद्युत के दीपक ले चञ्चल,
सागर-सा गर्जन कर निष्फल
घन थकते उनको खोज-खोज
फिर मिट जाते क्यों विफल धूम !
जाने किसकी...

इस दृष्टिकोण से एक बात अवश्य होगी; वह यह कि बहुत कम रचनाएँ अब छायावाद के अन्तर्गत रखी जा सकेंगी। संभव है यह बात बहुतों को खटके।

रहस्यवाद

व्याख्या

कविता का क्षेत्र असीम है। दृश्य और अदृश्य सब उसकी परिधि में खिंच कर चले आते हैं। जिस प्रकार वह दृष्टि के सामने बिछी प्रकृति और उपस्थित प्राणियों की चर्चा करती है उसी प्रकार अलक्ष्य लोक और अज्ञात शक्ति को भी अपने वर्णन का विषय बनाती है। जिसे आँखें देख पाती हैं वही उसके शासन की वस्तु नहीं, जिस तक बुद्धि की उड़ान और मन की पहुँच है वहाँ भी वह मँडराती है। जिस प्रकार वह सुमन झाड़ियों, गिरिवर प्रपात, नक्षत्र ज्योत्स्ना, प्रभात सन्ध्या, वसन्त वर्षा, कोकिल और पपीहे का वर्णन करती है; जिस प्रकार वह किसान मजदूर, भिखारी विधवा, शिशु मुग्धा, भक्त और भगवान के चित्र खींचती है; जिस प्रकार वह दीनता श्रम, हर्ष विषाद, मिलन विरह का वातावरण उपस्थित करती है उसी प्रकार वह आत्मा और इस सृष्टि के अदृश्य शासक के प्रति उसके आकर्षण को भी पहचानती है। आत्मा और ब्रह्म की इसी पारस्परिक प्रणयानुभूति को रहस्यवाद कहते हैं।

कवि रहस्यवादी क्यों बनता है

तुलसी ने गीतावली के एक दोहे में लिखा है कि स्त्रियाँ अपने घर की दीवालों पर अपने हाथ से ऐपन के चित्र

बनाकर उनकी पूजा से ही सिद्धि प्राप्त कर लेती हैं। इस निम्न कोटि के विश्वास से लेकर उत्कृष्ट स्तरों के सभी प्रकार के विश्वासों में एक प्रकार की सांस्कृतिक चेतना निवास करती है। सभी किसी न किसी प्रकार के विश्वास को लेकर जीते हैं। घर में थापे और पीली मिट्टी के ढेले की गौरी को देवियाँ मानने वाली, तुलसी और पीपल की पूजा करने वाली, त्यौहारों पर नक्षत्रों और चन्द्रमा को अर्घ्य देकर पारण करने वाली, रमणियों टीलों के विकृत प्रस्तर-खंडों एवं मन्दिरों की भव्य मर्मर-मूर्तियों के सामने नत शिर होने वाले भक्तों, वलि देने वाले नर-पशुओं और यज्ञ-धूम से शून्य को सुवासित करने वाले कर्म-काडियों के हृदय में एक ही भावना काम करती है—अपने से किसी महान् को तुष्ट करने का। इस तुष्टता के मूल में कहीं कामना होती है जैसे—धन की, यश की, पुत्र की; कहीं यह मनोविकार निष्काम होता है। उपास्य की आराधना लौकिक लगाव के लिए न होकर केवल मन के सुख के लिए भी होती है। इस प्रकार का निष्काम प्रेम-भाव चाहे वह असंस्कृत मन का हो चाहे संस्कृत मन का श्लाघनीय है। पर यदि उपास्य को चुनने में विवेक भी सहायक हो तो अन्तर का सुख सहस्र गुना हो जाता है। गीता के सव्यसाची और मानस के तुलसी की ऐसी ही ज्ञानमूला भक्ति थी। मनीषियों ने एक चरण और आगे बढ़कर निराकार को ही चिन्तन का विषय बनाया और यह पाया कि मन-सरित् को शाश्वत विश्राम इसी सत्य-सिन्धु की क्रोड़ में मिलता है। अतः जिस कवि की चिन्ताधारा अवतारवाद के विश्वास से ऊँची उठ कर निराकार की आश्रय भूमि में बहती है वह रहस्यवादी कहलाता है। यह धर्म और दर्शन के क्षेत्र की बात हुई।

प्रत्येक प्राणी में एक प्रकार की सौंदर्य भावना भी पाई जाती है— सौंदर्य भावना ही नहीं सौन्दर्योपासना भी! इस सौंदर्योपासना के लिए पशु पक्षी भी प्राण दे देते हैं। आपने उज्ज्वल दीपशिखा पर पतंगों को झुलसते, चाँदनी रातों में चकोर को विह्वलता से मँडराते और आषाढ़ मास में मयूरों को पुकारते और चातक को पी-पी की रट लगाते देखा सुना होगा। ताँगे में चक्कर काटते हुए ताँगे वाले के मुँह से निकले कभी आपके कान में दो शब्द पड़े होंगे 'हाय राजा'। वह आपकी भाँति शिक्षित नहीं है और न उसमें आप जैसा संयम ही है। पर जो रूप आपको अभिभूत किये रहता है उसी प्रकार की कोई छाया उसके नयनों में भी घूमती रहती है। उसका 'राजा' उसे बहुत सुन्दर प्रतीत होता है, आपकी 'रानी' आपको। तात्पर्य यह कि अपने वातावरण और अपने संस्कृत-मन के अनुरूप ही अपनी-अपनी सौन्दर्य-भावना होती है। काश्मीर के निवासियों की सौन्दर्य-भावना अफ्रीका के निवासियों की सौंदर्य-भावना से निश्चित ही भिन्न प्रकार की होगी। धार्मिकों ने भी सौंदर्य की शक्ति को परख कर, अपने-अपने उपास्यों को अतुल सौंदर्यशाली वर्णित किया। राम और कृष्ण के सौन्दर्य की क्या कोई सीमा है? प्राणियों से हट कर प्रकृति पर दृष्टि डालें तब उषा ज्योत्स्ना, तारक सुधानिधि, मेघ वसन्त श्री, हिमाच्छादित पर्वत श्रेणियां और हरित दूर्वादल की साड़ी ओढ़े धरणी, चाँदी के झरने और मोती सी ओस की बूँदों में कितना सौंदर्य बिखरा पड़ा है। दो नेत्रों की शक्ति नहीं कि इसे पी सकें। यहाँ मुझे पद्मावत के हीरामन तोते की याद आती है। एक दिन नागमती ने शृङ्गार करके उससे पूछा था, "तोते, सच बतलाना मेरे रूप की समता

कहाँ है ?" तोते ने कलेजे को चीरने वाली बात उस समय कही थी, "जेहि सर हंस कबहुँ नहि आवा, बगुला तेहि सर हंस कहावा।" हीरामन के समान ही कुछ साधकों को यह कहने का पूरा अधिकार मिला है कि सौंदर्य का एक ऐसा भी स्रोत है जहाँ से यह तुम्हारी प्रकृति, तुम्हारी प्रेयसियाँ, तुम्हारे रामकृष्ण कण पाकर तुम्हारे नयनों में चकाचौंध उत्पन्न करते हैं। रहस्यवादी इसी 'चिर सुन्दर' की झलक के लिए प्यासा घूमता है।

अन्तर की तीसरी प्रबल भावना है प्रेम। रहस्य-भावना भी प्रेम-भावना ही है—शुद्ध प्रेम-भावना। प्राणी प्राणी का प्रेम न होकर वह आत्मा परमात्मा का प्रेम है। आत्मा अपने प्रेमास्पद से बिछुड़कर भटक रही है-जन्मान्तर से। ऐसी अनुभूति के जगते ही कवि को सब अनाकर्षक लगने लगता है—सब फीका। उसके अन्तर से तब एक ही अश्रान्त पुकार उठती है, "तुम कहाँ हो ?"

इस प्रकार कभी दर्शन के क्षेत्र में, कभी सौन्दर्य के लोक में और कभी प्रेम की भूमि में विचरण करता हुआ कवि रहस्योन्मुख हो जाता है। पर इस प्रकार का विभेद अत्यन्त अस्वाभाविक है। ये तीन भावनाएँ न होकर एक ही भावना के तीन पहलू हैं। दर्शन के क्षेत्र का तात्पर्य है हमारा उपास्य सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् है। सौन्दर्य भावना पर चलने वाली रहस्य-भावना का भाव है कि ब्रह्म सौन्दर्य का आदि अजस्र-स्रोत है, और प्रेमाश्रयी रहस्य-भावना का अर्थ है कि इसी चिर-सुन्दर से हमारा प्रेम-सम्बन्ध है।

रहस्यवादियों के आराध्य के सम्बन्ध में ज्ञात और अज्ञात को लेकर जो तर्क किये जाते हैं उस सम्बन्ध में हम यह और

कहना चाहते हैं कि यदि कोई वस्तु केवल भावना से सिद्ध है तब काव्य के क्षेत्र के लिये केवल इतनी सिद्धि पर्याप्त है। नास्तिक की यह भावना कि इस सृष्टि का कर्त्ता कोई नहीं है, अवतारवादी की यह भावना कि राम और कृष्ण ही परमात्मा हैं, काव्य के लिये जितनी यथेष्ठ है उतनी ही रहस्यवादी की यह भावना भी कि इस विश्व को परिचालित करने वाली कोई अशरीरी शक्ति है जिससे उसका प्रेम-सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। मन के विचरण की जैसे अनेक भूमियाँ हैं उसी प्रकार रहस्य की एक भूमि भी। साधना पर अवलंबित न होकर केवल भावनामूला रहस्य की वृत्ति भी काव्य की सत्यता के अन्तर्गत परिगणित होगी।

हिन्दी में रहस्यवाद

हिन्दी काव्य में रहस्य-भावना सब से पहिले सन्तों में पायी जाती है। सन्त रहस्य-वादियों में सब से प्रमुख कबीरदास जी हैं। सन्तों के उपरान्त सूफी कवि दूसरे रहस्यवादी हैं। यद्यपि ईरान के सूफ़ी कवियों में रहस्य-भावना का विकास बहुत पहिले हो चुका था परन्तु हिन्दी में सूफ़ियों ने सन्तों के उपरान्त लिखना प्रारम्भ किया। सूफ़ियों में जायसी को बहुत ख्याति मिली। सन्त और सूफी दोनों निर्गुण के उपासक थे। इसके उपरान्त फिर एक बार देश में सगुण ब्रह्म की आराधना प्रचलित हुई जिसने सूर और तुलसी जैसे महाकवि उत्पन्न किये। रीतिकाल ने लौकिक-प्रेम की शृंगारी रचनाएँ देश को दीं और इसी लौकिकता के प्रभाव से भक्ति को भी विकृत रूप में उपस्थित किया। अब आधुनिक युग में आकर फिर कुछ ऐसी परिस्थितियाँ खड़ी हुईं जिनसे रहस्यवाद के स्फुरण को अवकाश मिला।

दशावतारों में प्रमुखता तीन ही अवतारों को मिली—राम, कृष्ण और बुद्ध को। गौतम का दर्शन तो एक प्रकार का नास्तिकवाद है ही, अतः उन्हें लेकर सगुण की आराधना नहीं चल सकती। भगवान राम पर तुलसी ने इतने उत्कृष्ट रूप में लिखा कि नवीनता की दृष्टि से आख्यान लेकर चाहे नवीन ग्रन्थों का निर्माण हो, पर भक्ति का स्वरूप उससे उत्कृष्ट रूप में नहीं उपस्थित किया जा सकता। प्रेमावतार कृष्ण का रूप रीतिकालीन कवियों की लेखनी से धूमिल हो ही उठा था। अतः इन अवतारों के पतितपावन स्वरूप की अवतारणा की कोई आशा इस युग के प्रारम्भ में नहीं थी। ठीक ऐसे समय में, जैसा हम पीछे संकेत कर आये हैं, स्वामी दयानन्द का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जो अवतारवाद का विरोधी था, और इधर पश्चिम का प्रभाव भी अंग्रेजों के आगमन और सम्पर्क से देश में स्थिर हो चुका था। इन प्रभावों में सबसे अधिक विज्ञान का प्रभाव था जिसने सभी प्रकार की अलौकिकता को चुनौती दी। इस प्रकार इस युग के कवियों का मन यदि पारमार्थिक सत्ता की ओर मुड़ सकता था तो उसे निराकार और निर्गुण ही मानकर। बंगाल में इसी समय श्री० रवीन्द्रनाथ टैगोर की रहस्यवादी रचनाओं को प्रसिद्धि प्राप्त हो चुकी थी। किन्तु हिन्दी में उनके प्रभाव को आँकने में आलोचकों ने अतिरंजना से काम लिया है। रवि की शैली का थोड़ा-सा प्रभाव पन्त जी की किसी किसी रहस्यवादिनी रचना पर है, पर प्रसाद, महादेवी, निराला आदि ने अपने-अपने पथ का निर्माण अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा के बल पर किया है।

भ्रांतियाँ

रहस्यवाद का योग की क्रियाओं से कोई घनिष्ठ सम्बन्ध

नहीं है। आधुनिक रहस्यवादियों पर यह आक्षेप बार-बार किया गया है कि उनके जीवन का सामंजस्य उनकी रचनाओं से नहीं। रहस्यवाद अद्वैतवाद पर चलता है और अद्वैतवाद शुद्ध विवेक का पथ है। इनमें कुंडलिनी, षट्-चक्र और ब्रह्मरंध्र आदि के ज्ञान की आवश्यकता नहीं। रहस्यवाद क्योंकि काव्य की वस्तु है, अतः यदि किसी को अद्वैतवाद का अच्छा परिचय है तो वह उत्कृष्ट रहस्यवादी सिद्ध हो सकता है। अपनी वृत्ति के प्रति सजगता और निर्वाह (sincerity) ही कवि की सच्ची साधना है। जिनके मस्तिष्क में अस्थिरता रहती है वे एक दिन स्वयं ही अपने पथ से विचलित होकर उसका परिचय दे देते हैं।

अद्वैतवाद भी केवल वृत्ति के मूल में काम करता है। बुद्धि की पहुँच के क्षेत्र में यह गंतव्य-स्थान सा है जिसके दर्शन पथ के अन्त में होते हैं। पर पथ पर चलते हुए भी गंतव्य स्थान बराबर मन में घुमड़ता रहता है। इसी प्रकार कवि यदि प्रारम्भ और मध्य में आत्मा, प्रकृति और परमात्मा की पृथक-पृथक सत्ता स्वीकार करके चले तो उसमें भिन्न वाद ढूँढने की आवश्यकता नहीं है। रहस्यवाद प्रेम-सम्बन्ध है, आनन्दानुभूति का एक पथ है। प्रणय विभिन्न सत्ताओं में ही सम्भव है, अतः एकाकार होने से पहिले की उनकी भिन्न स्थिति एकाकारकी ही पूर्व स्थिति है। तात्पर्य यह कि वृत्तियों की शाखाओं से भ्रांत न होकर मूल की इकाई को देखना चाहिये जिससे वे शाखाएँ फूटी हैं।

रहस्यवाद की रहस्यों से भी कोई घनी मित्रता नहीं है, अतः रहस्यवाद का नाम सुनते ही उससे झिझकने की आवश्यकता

नहीं है। रहस्यवाद जैसा मैं पीछे कह चुका हूँ एक प्रकार का प्रणय-पथ है। यदि आपने लौकिक प्रेम की कभी कोई घटना सुनी है तब आप इसे समझ सकेंगे और यदि कभी इस पारस ने आपके व्यक्तित्व को स्पर्श किया है तब इस अनुभूति को आप सहज भाव से अपना सकेंगे।

पथ के चरण

आस्था—ब्रह्म की सत्ता में आस्था रहस्यवादी होने का प्रथम सोपान है। सृष्टि के दर्शनमात्र से यह भावना उठ सकती है कि इसे परिचालित करने वाली कोई महाशक्ति है। उपनिषदों के अध्ययन से यह आस्था दृढ़ हो सकती है। किसी ब्रह्मवादी महात्मा के सम्पर्क से व्यक्ति निर्गुण का उपासक हो सकता है। अपने स्वतन्त्र चिन्तन से भी एक दिन परमार्थ का साधक निराकार का स्नेही हो सकता है। सृष्टि के दुःख, शोक, हिंसा, ईर्ष्या, कलह, विश्वासघात से घबराकर भी संसारी विरक्ति-पथ का पथिक होते ही उस 'अनन्त-रमणीय' के चरणों का स्नेही बन सकता है। तात्पर्य यह कि आस्थावान् होने के अनेक मार्ग हैं। रहस्यवादी के जीवन में इनमें से कोई न कोई सामने आ उपस्थित होता है।

इस आस्था के उपरान्त उसे उस महाशक्ति का आभास व्यापक प्रकृति में कहीं और कभी मिल जाता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि आभास से आस्था दृढ़ होती है। उनकी कहीं झलक पाकर कवि अपने जीवन की समस्त कामनाओं की सुमनाञ्जलि उनके चरण-प्रान्त में चुप से चढ़ा देता है। आभासमार्ग से आई हुई आस्था और भी दृढ़ होती है। महादेवी जी की आस्था इसी दृढ़ मार्ग की है:—

(१) कैसे कहती हो सपना है
अलि उस मूक मिलन की बात ?
भरे हुए अब तक फूलों में
मेरे आँसू उनके हास ! —नीहार

(२) मधुराका मुसक्याती थी
पहिले देखा जब तुमको
परिचित से जाने कब के
तुम लगे उसी क्षण हमको ! प्रसाद—आँसू

सम्बन्ध—जैसे प्रेम के अनेक सम्बन्ध हैं; उसी प्रकार रहस्यवाद में भी आत्मा परमात्मा से किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करके चलती है। यह सम्बन्ध पिता, माता, स्वामी, सखा, प्रियतम, प्रिया में से कुछ भी हो सकता है। फिर भी प्रिया प्रियतम का सम्बन्ध सबसे उपयुक्त और मधुर होता है। कारण यह कि इस सम्बन्ध में हृदय की सारी वृत्तियाँ अपने प्रकटीकरण के लिए अवकाश पा लेती हैं:—

(१) अवगुण मेरे बाप जी बकस गरीबनिवाज—कबीर

(२) तू कितनी प्यारी है मुझको
जननि कौन जाने इसको
यह जग का सुख, जग को दे दे,
अपने को क्या सुख क्या दुःख ! —पन्त

(३) साहिब सूँ परिचा नहीं —कबीर

(४) पानी हूँ ते पातला, धूँवाँ हूँ ते झीन
पवना वेगि उतावला, सो दोस्त कबीरा कीन्ह—कबीर

(५) प्रिय चिरंतन है सजनि
क्षण-क्षण नवीन सुहागिनी मैं। —महादेवी

(६) सौरभ-समीर रह जाता
प्रेयसि! ठण्डी साँसें भर। —पन्त

रूप वर्णन—जैसे लौकिक प्रेम में प्रेमी प्रेमिका का रूप-चिन्तन करता पाया जाता है उसी प्रकार रहस्यवादी भी। क्योंकि ब्रह्म प्रत्यक्ष दर्शन का विषय नहीं है अतः रूप के सम्बन्ध में अधिकतर 'आलोक' के वर्णन पाये जाते हैं या फिर प्रकृति में उनकी आभा को प्रतिभासित देखा जाता है:—

(१) तेरी आभा का कण नभ को
देता अगणित दीपक दान;
दिन को कनक राशि पहनाता
विधु को चाँदी का परिधान। —महादेवी

(२) हे अनन्त रमणीय कौन तुम? —प्रसाद

(३) न जाने कौन, अये द्युतिमान्! —पन्त

(४) तुम शरत्-काल के बाल इन्दु
मैं हूँ निशीथ मधुरिमा। —निराला

विरह वर्णन—रहस्यवादियों के काव्य का अधिकांश विरह भावना से सिक्त रहता है। उनका प्रियतम अलक्ष्य और दुष्प्राप्य होने से मिलन के बहुत कम अवसर देता है। दो-तीन छन्दों के अतिरिक्त आँसू के समस्त छन्द विरह व्यथा के शब्द-चित्र हैं। इसी प्रकार एकाध स्थल को छोड़कर दीप-शिखा के अन्त तक महादेवी जी का समस्त गीति-काव्य विरह से परिप्लावित

है। इस वर्णन में विह्वलता की कोटि-कोटि दशाएँ समाहित रहती हैं :—

(१) जो तुम आजाते एक बार !
कितनी करुणा कितने संदेश
पथ में बिछ जाते बन पराग,
गाता प्राणों का तार-तार
अनुराग भरा उन्माद राग;
आँसू लेते वे पद पखार ! —नीहार

(२) किस सुधि-बसन्त का सुमन-तीर
कर गया मुग्ध मानस अधीर ! —रश्मि

(३) तुम्हें बाँध पाती सपने में
तो चिर जीवन प्यास बुझा
लेती उस छोटे क्षण अपने में।—नीरजा

(४) मेरा सजल मुख देख लेते !
यह करुण मुख देख लेते। सांध्य-गीत

(५) तरल मोती से नयन भरे !
मानस से ले उठे स्नेह-घन,
कसक विद्यु, पुलकों के हिम कण,
सुधि-स्वाती की छाँह पलक की सीपी में उतरे · दीपशिखा

पत्र लेखन—विरह में सान्त्वना का एक अनुपम उपाय पत्र-लेखन है। पत्र लेखन एक प्रकार का मानसिक मिलन है। यह मानसिक सङ्गम विरह के उस काल्पनिक मिलन से अधिक स्पष्ट, सुखद और स्थायी होता है जिसकी अनुभूति तीव्र अनुराग में होती रहती है। काल्पनिक मिलन में प्रेमी के ही प्रेमातिरेक

का पता चलता है, पत्र-व्यवहार में दोनों का; काल्पनिक मिलन एकांगी है, पत्र-व्यवहार दोनों के हृदय का भेद खोलता है; काल्पनिक मिलन एक सुखद-भ्रम है, पत्र एक निश्चित आधार। पत्र को पाकर उससे कम सुख नहीं होता जैसा मिलन में होता है। कभी-कभी तो पत्र के द्वारा हम अपने अंतर को जिस रूप में प्रत्यक्ष कर देते हैं उस रूप में एक दूसरे के सामने बैठकर नहीं। पर रहस्यवाद के क्षेत्र में कवि को यह सौभाग्य भी पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं है। उसका प्रियतम तो अन्तर में रहता है अतः उसके लिए इसकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती :—

(अ) अलि कहाँ संदेश भेजूँ !
मैं किसे संदेश भेजूँ !
उड़ रहे यह पृष्ठ पल के,
अंक मिटते श्वास चल के,
किस तरह लिख सजल करुणा की कथा सविशेष भेजूँ !

—दीपशिखा

(आ) कैसे संदेश प्रिय पहुँचाती !
दृगजल की सित मसि है अक्षय,
मसि प्याली, झरते तारक द्वय;
पल-पल के उड़ते पृष्ठों पर
सुधि से लिख श्वासों के अक्षर—
मैं अपने ही बेसुधपन में
लिखती हूँ कुछ, कुछ लिख जाती !

—नीरजा

अभिसार—अभिसार रोमांस का रोमांस है। यह कोमल प्रणय का साहस-पक्ष है। दृष्टि बचाकर, वातावरण पर विजय

त्याग करके, पथ के विघ्नों को कुचलते हुए किसी का किसी से चुपचुप मिलने जाना और चुपचुप लौट आना कल्पना के लिए भी स्वर्ग है। दाम्पत्य जीवन इस सौभाग्य से वंचित ही रहता है। महादेवी जी ने इसकी मधुरता को पहचाना है, पर उनके स्वभाव के अनुसार इसमें अधिक तीव्रता नहीं आ पायी—

(क) शृंगार करले री सजनि !

तू स्वप्न-सुमनों से सजा तन
विरह का उपहार ले,
अगणित युगों की प्यास का
अब नयन अंजन सार ले !

अज्ञात पथ है, दूर प्रिय,
चल, भीगती मधु की रजनि !

(ख) पाथेय मुझे सुधि मधुर एक
है विरह-पंथ सूना अपार !
फिर कौन कह रहा है सूना
अब तक मेरा अभिसार नहीं !

मिलन—प्रेम की अंतिम स्थिति है मिलन। लौकिक प्रेम की अन्तिम स्थिति हो सकती है और प्रायः होती है विछोह—चिर विछोह ! पर रहस्यवाद के क्षेत्र में चिरमिलन ही, लीनता ही सीमा का अंत है। इस मिलन के अनेक पक्ष हो सकते हैं—

(अ) वाह्य-प्रकृति में अनुभूति—

सुरभि बन जो थपकियाँ देता मुझे
नींद के उच्छ्वास सा वह कौन है ? —रश्मि

(आ) अन्तर में अनुभूति—

कौन तुम मेरे हृदय में ? —नीरजा

यामा और दीपशिखा

यामा में महादेवी जी के चार काव्य-ग्रन्थों—नीहार, रश्मि, नीरजा और सांध्यगीत के एक सौ पचासी गीत संगृहीत हैं। 'अपनी बात' में महादेवी जी इस बात का निश्चय स्वयं नहीं कर पाईं कि ये याम दिन के हैं या रात के। गीति-ग्रन्थों के नामकरण के आधार पर ये याम दिन के ही कहलायेंगे। प्रभात में पहले नीहार छाता है, फिर रश्मि अवतीर्ण होती है, फिर नीरजा खिलती है। इसके उपरान्त दिवसावसान के समय सांध्यः गीत की वेला आती है। भाव दृष्टि से भी ये याम दिन के ही हैं। नीहार एक धुँधले विषादपूर्ण वातावरण की सृष्टि करता है। 'नीहार' ग्रन्थ में भी एक अज्ञात आराध्य की उपासना चलती है, अज्ञात लोक से आह्वान आते हैं, हृदय के भाव स्पष्टता से व्यक्त नहीं हो पाये हैं और साधना का मार्ग भी निश्चित नहीं हुआ है। कवयित्री का मानस विषाद और पीड़ा के वातावरण में पूर्ण-रूप से डूब-सा गया है। रश्मि जैसे नीहार को चीर धुँधलेपन को दूरकर प्रकाश और प्रसन्नता फैलाती है उसी प्रकार रश्मि की रचनाओं में एक प्रकार का आह्लाद भरा हुआ है। हृदय के धुँधले-भावों का प्रकटीकरण भी एक गति और रूप पकड़ता प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ में प्रेमपात्र, प्रकृति और प्रेयसी के स्वरूपों के साथ जीवन, मृत्यु, मुक्ति और अमरता का

मूल्यांकन भी स्पष्ट भाषा में है। वेदना की मधुरता का अनुभव भी इन्हीं गीतों में व्यक्त हुआ है। इस ग्रन्थ का अन्त भी एक आशा के वातावरण में हुआ है जिसका आभास रश्मि के प्रथम गीत से ही चलता है: —बनती प्रवाल का मृदुल कूल जो क्षितिज रेख थी कुहुर म्लान। इस प्रकार रश्मि का वातावरण प्रकाश और प्रसन्नता का वातावरण है। नीरजा में प्रेम का जीवन थोड़ा आगे बढ़ गया है: —विरह का जलजात जीवन विरह का जलजात। नीहार की भाव-अस्पष्टता से मुक्त कर रश्मि ने जैसे प्रणय-नीरजा की पंखुरियाँ खोल दी हों। अश्रु-जल में इसका जन्म हुआ है। नीरजा में हृदय-कमल की ही प्रेम और प्रतीक्षा सम्बन्धी भाव-पंखुरियों को खोला गया है। प्रभातकाल से सन्ध्या तक जैसे कमलिनी ताप सहती है उसी प्रकार नीरजा के गीतों में तीव्र स्नेह-ताप छाया हुआ है। काल की दीर्घता के अनुसार 'नीरजा' में गीतों की संख्या भी अन्य तीन काव्य-ग्रन्थों में प्रत्येक से अधिक है। नीहार से निकल, रश्मि के सम्पर्क में आ नीरजा, नीहार और रश्मि के पश्चात् ऐसी स्वाभाविक प्रतीत होती है मानों नीहार और रश्मि के पुल्लिग-स्त्रीलिंग के योग से यह सुकुमारी उनकी छाप को अनायास अपने नाम तक में (नीहार की 'नी' और रश्मि के 'र' के योग से 'नी' 'र'-जा) लिये हुये हो! इसी से एक प्रकार की अनिच्छित उपयुक्तता में नीरजा का सरोज, शतदल, सरसिज आदि कोई पर्याय नहीं चुना गया। सांध्य-गीत की रचनायें इस उपासिका की उस स्थिति को व्यक्त करती हैं जब वह अपने पथ में एक ओर बहुत दूर बढ़ चुकी है और साधना के फल से बहुत दूर नहीं है। जीवन-सन्ध्या विश्राम की आशा दिलाती है। जैसे

सन्ध्या में इसी प्रकार सांध्य-गीत के ताप में एक प्रकार की स्निग्ध शीतलता है। इन गीतों में से अनेक की पृष्ठभूमि सन्ध्या का वातावरण है। सांध्यगीत का प्रथम गीत 'प्रिय सांध्य गगन मेरा जीवन' रूपक के सहारे इन गीतों के रचना-काल की मानसिक स्थिति और आध्यात्मिक उन्नति को व्यक्त करता है और उसका अन्तिम गीत 'तिमिर में वे पद-चिन्ह मिले' उस सान्त्वना की अभिव्यक्ति है जो साधक की सतत साधना के उपरान्त स्वत: प्राप्त होती है।

ये याम दिन के ही हैं इस तथ्य की पुष्टि इस बात से और भी होती है कि सांध्यगीत के उपरान्त उनकी विरह-व्यथा 'दीपशिखा' के रूप में प्रकट हुई है।

दीपशिखा में सबसे अधिक रचनायें दीपक पर हैं जिनमें दीप को आत्मा का प्रतीक मानकर उस समय तक निष्कंप निष्काम भाव से विरह में जलने के लिये प्रोत्साहित किया गया है जब तक प्रभात-वेला (साध्य की आभा) न दिखाई पड़े। दीपक की गाथा स्नेही के प्राणों की गाथा है। दीपक जैसे जैसे जलता है उसका प्रेमपात्र प्रभात वैसे ही वैसे निकट आता है, इसी प्रकार प्राण जैसे जैसे घुलते हैं प्रेमास्पद वैसे ही वैसे हमारे निकट आता है। महादेवी जी की रचनाओं में आत्मा के लिए और जितने प्रतीक स्वीकार किये गए हैं उनमें दीपक ही सबसे अधिक उपयुक्तता का श्रेयभागी है। वहाँ रात विरह-निशा के लिए, अन्धकार प्रणय-पीड़ा के लिए, शलभ संसार के लिए, लौ सुधि के लिए, झंझा साधना के विघ्नों और मृत्यु के लिए, तेल आंतरिक स्नेह के लिए, प्रकाश धुँधले पथ को प्रकाशित करने के लिए और प्रभात मिलन-वेला के लिये प्रयुक्त हुए हैं।

दिन के चार यामों की प्रणय-गाथा कहने के लिए जहाँ चार विभिन्न काव्यों का प्रणयन हुआ वहाँ रात के चार याम अकेली दीपशिखा के सहारे कट गये।

रात के इन चार यामों में कवयित्री रुक-रुक कर आगे बढ़ी है। दीपशिखा में ५१ गीत हैं। इनमें आप पायेंगे कि यदि बिल्कुल नाप-जोख के साथ नहीं तो कुछ आगे पीछे उन्होंने इन यामों का विभाजन कर लिया है। पहिले, बारहवें, उन्तीसवें, छत्तीसवें, बयालीसवें और पचासवें गीत की प्रथम पंक्तियाँ पढ़िये—

(१) दीप मेरे जल अकंपित घुल अचञ्चल।
(२) जब यह दीप थके तब आना।
(३) मैं क्यों पूछूँ यह विरह-निशा
कितनी बीती क्या शेष रही?
(४) शेषयामा यामिनी मेरा निकट निर्वाण!
पागल रे शलभ अनजान!
(५) पूछता क्यों शेष कितनी रात?
(६) सजल है कितना सवेरा?

पहिली रचना में उस उत्साह के दर्शन होते है जिसकी अनुभूति यात्रा के प्रारम्भ में सभी उत्साही यात्रियों को होती है। दूसरे गीत पर एक याम समाप्त हो चुका है। थोड़ी दूर चलने पर जब कोई प्रश्न करता है 'थक तो नहीं गये?' तब चरण चाहे थोड़ा विश्राम चाहते हों, पर उत्तर यही मिलता है, 'नहीं तो, जब थक जायँगे तब देखा जायगा।' यही दशा दूसरे गीत की है। तीसरी रचना पर दूसरा याम समाप्त होता है। आधी यात्रा पूरी हो चुकी है, शेष आधी भी पूरी करनी है। पीछे लौटना

नहीं है। मुख्य बात गति है, कोसों को गिनना नहीं। इसी से कहा :—

मैं क्यों पूछूँ यह विरह-निशा कितनी बीती क्या शेष रही ?

चौथी रचना पर तीसरा याम समाप्त होता है और अन्तिम प्रहर प्रारम्भ। इसे तो साधिका ने ही स्पष्ट कर दिया है—

शेषयामा यामिनी मेरा निकट निर्वाण !

छटी कविता में प्रभात के दर्शन होते हैं। इस पंक्ति से वह आह्लाद बिना कहे बरस रहा है जो यात्रा के अन्त में मुख पर छा जाता और अन्तर में भर जाता है। ठीक इसी प्रकार की प्रसन्न स्थिति में सात समुद्रों को पारकर एक प्रभात में पद्मावत से रत्नसेन भी 'मानसर' में पहुँचा था :—

गा अँधियार, रैनि-मसि छूटी, भा मिनसार किरन-रवि फूटी।

और जैसे वहाँ निकट स्थित 'सिंहल-द्वीप' को देखकर

'अस्ति अस्ति' सब साथी बोले

उसी प्रकार व्यथा की सारी निशा को काटकर महादेवी के अंतर्नयन देखते हैं—

सजल है कितना सवेरा !

बीच में एक रचना और है। सच बात तो यह है कि जब गंतव्य स्थान बिल्कुल ही निकट होता है तब एक प्रकार की उत्सुक अधीरता प्राणों को आ घेरती है। उर्दू वालों की 'टूटी कहाँ कमंद' बड़ी हसरत से आपने सुनी होगी और बिहारी का नायक तो सारा पथ नाप आया और घर की देहली लाँघने में साहस तोड़ बैठा। बिल्कुल निकट आकर निकटता के लिये प्राण सारी शक्ति से ललक उठते हैं। यहाँ साधिका का प्राण-दीपक भी उसी अधी-

रता का अनुभव करता है, पर उसके पीछे जो व्यक्तित्व गति को परिचालित कर रहा है वह बहुत दृढ़ है—झंझा और प्रलय में भी न विचलित होने वाला। इसी से साहस भरा यह स्वर उसे पीछे से सावधान करता है :—

पूछता क्यों शेष कितनी रात !

इस क्रम—नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत, दीपशिखा को दृष्टि में रखकर आशा की जाती है कि इसके उपरान्त महादेवी जी की जो रचना प्रकाशित होगी वह 'विहान' या इसी प्रकार के किसी प्रसन्न प्रतीक के आधार पर नामांकित होगी।

———

साध्यः परम तत्त्व

देहाभिमानी जिसकी अवहेलना करते आए उस परम-रूप ब्रह्म तत्त्व को हमारे पूर्वजों ने सहस्रों वर्षों की तपस्या और निरन्तर चिंतन के उपरान्त उपलब्ध किया था। तत्त्वदर्शी ऋषियों के समान इस विराट्, इस विश्वदेव, इस अनंत रमणीय की ओर कबीर, टैगोर जैसे महान् कवियों की भावमयी दृष्टि बराबर उठती रही। आधुनिक काल के रहस्यवादियों में 'पन्त' केवल उत्सुकतावादी ही रहे—शांत सरोवर का उर किस इच्छा से लहराकर चञ्चल हो उठता है? सम्भवतः इस अधीर सरसी में लहरियाँ उन्हें ताड़ने के लिए उठती हैं। 'प्रसाद' ने रहस्यवाद के क्षेत्र में प्रकृति के सहारे थोड़ा प्रेम-व्यापार भी चित्रित किया, पर भावों का सुसज्जित अनन्त भण्डार महादेवी जी के काव्य में ही दिखाई दिया। अतः देखना चाहिए कि उन्होंने इस अनन्त रमणीय को कैसा रूप दिया है।

रहस्यवाद ब्रह्म के प्रति आत्म-निवेदन है। वेदान्तिक-प्रक्रिया को समझाने के लिए अद्वैतवादी ब्रह्म के तीन स्वरूपों का वर्णन करते हैं—(१) निर्गुण निराकार (२) सगुण निराकार (३) सगुण साकार (अर्वाचीन)। निर्गुण निराकार शुद्ध चेतन है, एकदम निष्क्रिय है। सगुण निराकार (चेतन-माया), जिसका दूसरा नाम ईश्वर है, संकल्पों का आधार होता है। यह माया-विशिष्ट ब्रह्म

ही कारण-ब्रह्म है। यही जगत का कारण है, सृष्टि-कर्त्ता है। सगुण साकार में ब्रह्मा, विष्णु, महेश के अवतार आते हैं। ये भेद समझाने के लिए ही हैं। तुलसी के अनुसार ज्ञान को समझाने के लिए पहिले अज्ञान को चर्चा करनी पड़ती है। ज्ञानी पहिले सृष्टि का वर्णन करते हैं केवल उसका मिथ्यात्व निरूपित करने के लिए। फिर 'सगुण साकार' की उपाधियों को दूर करते हुए 'सगुण निराकार' की माया उपाधि को भ्रममात्र सिद्ध करते हैं। इस प्रकार ब्रह्म-ज्ञान की—स्व-रूपकी—उपलब्धि होती है। रहस्यवादियों का भी अंतिम लक्ष्य 'निर्गुण निराकार' की स्थिति की अनुभूति है। एक दिन साधक—चाहे वह महादेवी जी की भाँति भाव का साधक हो—इस तथ्य पर पहुँचता है कि मैं ही ब्रह्म हूँ, प्रेमिका और प्रियतम दो नहीं। पर इस तथ्य तक पहुँचने में दिन लगते हैं। अतः रहस्यवादी पहिले मायापति ब्रह्म का वर्णन करता है, 'सगुण निराकार' को लेकर चलता-सा प्रतीत होता है। ऐसा न करे तो भावना के लिए भूमि न मिले, प्रियतम या प्रियतमा का रूप-वर्णन असम्भव हो जाय, प्रेम की रंगीन कल्पनाओं के लिए अवकाश न रहे। क्योंकि डूब जाने, अस्तित्व लीन करने के आनंद का अनुभव सहसा प्राप्त नहीं हो जाता, इसलिए पहिले प्रेमी प्रेमिका के पृथक अस्तित्व के ही आनन्द को यथेष्ट समझा जाता है। उस ममत्व से भरी, साथ ही तथ्य की जानकार, महादेवी जी कहती हैं—

मिलन-मन्दिर में उठा दूँ जो सुमुख से सजल गुंठन।
मैं मिटूँ प्रिय में मिटा ज्यों तप्त सिकता में सलिल कण॥
सजनि मधुर निजत्व दे
कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं!

वह रहे आराध्य चिन्मय
मृण्मयी अनुरागिनी मैं ।

महादेवी का प्रिय हुआ ब्रह्म। यह ब्रह्म सृष्टि का कर्त्ता है। इस विषय में भी उन्होंने अद्वैतवादियों का अनुसरण किया है। अद्वैतवादियों की दृष्टि से ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है। प्रतीति भ्रम है। इस 'कुछ नहीं' का तात्पर्य है भासमान होते हुए भी न होना। जैसे हिरन को मरीचिका में जल का आभास दूर से होता है। आगे बढ़ने पर जल नहीं दिखाई देता। दूर या स्थूल दृष्टि से सृष्टि का भी आभास होता है, पर है यह मृगमरीचिका के समान। वास्तव में है ही नहीं। जैसे मृगमरीचिका को मिथ्या समझते हुए भी समझाने के लिए हम उसके स्वरूप का वर्णन करते हैं, उसी प्रकार सृष्टि का वर्णन भी सृष्टि के सत्य होने का प्रमाण नहीं है। हम स्वप्न का भी वर्णन करते हैं, पर वे हमारी कल्पना से ही प्रसूत होते और हमारे अन्दर ही उनकी सृष्टि विलीन हो जाती है। हमसे भिन्न उसको सत्ता नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म से भिन्न सृष्टि की सत्ता नहीं है। उन्हीं में यह खेलती-सी है।

विभिन्नता में एकता स्थापित करने के लिए अद्वैतवादी कनक-कुण्डल या मिट्टी और उससे बने पात्रों का उदाहरण देते हैं। कहते हैं विभिन्न वस्तुओं में जो भेद प्रतीत होता है वह बाह्य और नाम रूप का है। इसे हटाकर देखो तो भेद-बुद्धि दूर हो जाय। जैसे एक ही मिट्टी से घड़ा, नाँद, प्याली, सुराही आदि बनते हैं पर स्थूल दृष्टि को हटाकर देखा जाय तो ये सब मिट्टी के अतिरिक्त कुछ नहीं है। कुम्हार ने मिट्टी को एक विशेष आकार दे दिया, उसे हम घड़ा कहने लगे। उससे भिन्न एक और रूप दे

दिया, उसे हम सुराही या और कुछ कहने लगे। इससे किसी वस्तु की रचना में दो कारण सामने आए—

१. निमित्त कारण (कर्त्ता) जैसे कुम्हार।

२. उपादान कारण (सामग्री) जैसे मिट्टी।

शङ्का करने वाले कहते है मिट्टी के बर्तन मिट्टी से भिन्न न सही, पर अभी बनाने वाला कुम्हार (ब्रह्म) तो मिट्टी (संसार) से भिन्न प्रतीत होता है। क्या आपके पास कोई ऐसा उदाहरण हैं जिसमें 'निमित्त कारण' और 'उपादान कारण' एक हो जायँ। अद्वैतवादी कहते हैं मकड़ी को देखो। वह जाले की सृष्टि के लिए बाह्यसामग्री की अपेक्षा नहीं रखती। वह अपने अंतर से ही उसे निकालती और अपने अतर में ही उसे लीन कर लेती है। महादेवी ने उपनिषद् के इस उदाहरण का उपयोग किया है। त्रिगुणात्मक सृष्टि के विषय में वे कहती हैं—

स्वर्णलता सी कब सुकुमार
हुई उसमें इच्छा साकार!
उगल जिसने तिनरङ्गे तार
बुन लिया अपना ही संसार!

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्।

मुण्डक, १।१।७।

यह ब्रह्म निर्विकार होते हुए भी समस्त विकारों की क्रीड़ा-भूमि है वैसे ही जैसे निर्विकार आकाश के वक्ष पर असंख्य उडुगण जलते, कनक और नीलम के यान बना निशि-वासर दौड़ते, विशाल बादल पिघलते, बिजली की ज्वाला जलती और घन-गर्जन होता, पर उसमें एक कम्पन भी तो नहीं उठती। उन्होंने

यह भी माना है कि वह 'काल-सीमा-हीन' (देश काल से अपरिच्छिन्न) है और सूनेपन के भान से उसने विश्व-प्रतिमा का निर्माण किया। इसे 'एकोऽहं बहुस्याम्' वाली बात समझिये।

पर रहस्यवाद ज्ञान के पट पर भाव का रंगीन चित्र है, अतः कवि अपनी भावना के आधार पर भी कल्पनाएँ करता है। कवयित्री ने ब्रह्म से सृष्टि की रचना अपने भावानुकूल भी बतलाई है। ब्रह्म ने प्रेमिका को जब 'जीवन-बीन' दी तब प्रेमिका ने उन्हें 'प्रेम-शतदल' भेंट किया। उससे देखिए सृष्टि के तत्त्वों का कैसे विकास हुआ—

होगया मधु से सिंधु अगाध
रेणु से वसुधा का अवतार,
हुआ सौरभ से नभ वपुमान
और कम्पन से बही बयार।

वैसे ढूँढ़ने बैठें तो उनकी रचनाओं में (१) सृष्टि (२) स्थिति (३) प्रलय (४) संयमन (५) प्रवेश—ईश्वर के सभी कार्यों के उदाहरण बिना प्रयत्न के आ गये हैं, जैसे—

(१) हुआ त्यों सूनेपन का भान
प्रथम किसके उर में अम्लान
और किस शिल्पी ने अनजान
विश्व-प्रतिमा कर दी निर्माण!

(२) आलोक-तिमिर सित असित-चीर
सागर गर्जन रुन झुन मंजीर
रवि शशि तेरे अवतंस लोल
सीमन्त-जटित तारक अमोल।

(३) काल के प्याले में अभिनव,
ढाल जीवन का मधु आसव,
नाश के हिम अधरों से मौन
लगा देता है आकर कौन !

(४) अग जग उनका, कण कण उनका ।

(५) विविध रंगों के मुकुर सँवार,
जड़ा जिसने यह कारागार,
बना क्या बंदी वही अपार,
अखिल प्रतिबिंबों का आधार !

सृष्टि की रचना होते ही इस प्रेम के खेल को खेलने वाले तीन खिलाड़ी हुये (१) परमात्मा (२) आत्मा (३) प्रकृति। परमात्मा हुआ पुरुष के रूप में प्रेमी और प्रकृति तथा आत्मा हुई नारी के रूप में प्रेमिकाएँ। महादेवी जी ने प्रकृति का और अपना ऐसा मिला जुला वर्णन किया है कि दो का भान ही नहीं होता। प्रेमियों का एक जोड़ा ही दृष्टिगत होता है। प्रकृति के भावों का विश्लेषण करने वाली भी महादेवी ही हैं अतः उन्हीं को मुख्य या केवल प्रेमिका समझिए। जहाँ जहाँ जड़ प्रकृति में महादेवी ने हृदय खोजा है वहाँ अपनी प्रेमभावना की पुष्टि के लिए। प्रकृति प्रेम में प्रद्विन्द्विनी नहीं है। तीनों का सम्बन्ध उन्होंने इस पकार व्यक्त किया है —

यह जग क्या ! लघु मेरा दर्पण;
प्रिय तुम क्या ! चिर मेरे जीवन ।

चेतन ब्रह्म का अपना कोई स्थूल रूप नहीं है। अतः उनके रूप का निर्माण या संबंध की भावना साधक की वृत्ति ही करती है। कुछ रहस्यवादियों में यह भावना निर्दिष्ट नहीं होती जैसे

कबीर में। वे परमात्मा को कहीं माता के रूप में देखते हैं, कहीं पिता के रूप में। पर उनका विशेष झुकाव उन्हें पति रूप में, पुरुष रूप में देखने का है—

वाल्हा आव हमारे गेह रे, तुम बिन दुखिया देह रे।

जायसी जैसे सूफ़ी कवि परमात्मा को स्पष्टतया नारी रूप में देखते हैं—

जहँ जहँ विहँसि सुभावहिं हँसी,
तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी।

पर सूफियों के साथ भी यह सिद्धांत-वाक्य नहीं। पात्र के अनुरूप जायसी में भी परमात्मा का रूप बदलता प्रतीत होगा। जैसे जब पद्मावती प्रिय का चिंतन करती है तो उसे व्यापक रूप देने पर परमात्मा पुरुष प्रतीत होगा—

पिय हिरदय महँ भेंट न होई।

आधुनिक कवियों में पंत जी इस क्षेत्र में थोड़ी ही दूर चले पर अपनी दृष्टि वे भी एक रूप पर न जमा सके। वे कहीं प्रकृति को प्रतीक्षा करते देखते हैं तो उन्हें

सौरभ समीर रह जाता प्रेयसि ठंडी साँसें भर।

में नारी रूप से देखते हैं और कहीं स्वयं बाला बनकर—

न जाने नक्षत्रों से कौन, निमन्त्रण देता मुझको मौन

पर आश्चर्य प्रकट करते हैं। प्रसाद जी की आदत तो और भी विलक्षण है। उनकी दृष्टि तो नारी पर रहती है, पर संबोधन करते हैं पुल्लिंग में—

शशिमुख पर घूँघट डाले अन्तर में दीप छिपाए
जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आए।

यह घूँघट 'तुम आई' पर पड़ता तो अच्छा लगता। कामायनी का आराध्य 'पुरुष पुरातन' है और आँसू का आराध्या—यदि उसे रहस्यवाद की कृति मानें तो—एक नारी मूर्ति। पर महादेवी की भावना सभी कहीं निर्दिष्ट है। उन्होंने ब्रह्म को प्रियतम के रूप में ही देखा है—

(अ) मैं मतवाली इधर, उधर प्रिय मेरा अलबेला सा है।

(आ) सखि मैं हूँ अमर सुहाग भरी!
प्रिय के अनंत अनुराग भरी!

यह 'अलबेला' अनन्त महिमामय एवं अनन्त करुणामय होने के साथ अनन्त सुषमामय है। वह परम सुन्दर, चिर सुन्दर है। सृष्टि की सुन्दरता उसकी सुन्दरता की छायामात्र है। नक्षत्रों की मधुरिमा, सूर्य की कनक रश्मियों की उज्ज्वलता एवं विधु की रजत-ज्योत्स्ना की शुभ्रता उसकी आभा के एक कण की भी समता नहीं कर सकती। प्रारम्भ में ही महादेवी जी ने ज्योत्स्ना स्नात वासंती निशा में उनकी चितवन और स्मित से प्रभावित होने और प्रेम की अगाध असीम पीड़ा में डूबने की चर्चा की है। इस स्मित-चितवन की स्मृति जगह जगह जग पड़ी है। महादेवी ने उनके चरणों की कोमलता, उनके मन्द चाप एवं उनके मृदु उज्ज्वल चिह्नों का बार बार पूरी तन्मयता से वर्णन किया है। उनके चरणों पर देवता अपने अमरलोक को न्यौछावर करने के लिए प्रस्तुत रहते हैं। उन चरणों के नख-चन्द्रों के सामने नक्षत्रों का आलोक फीका पड़ जाता है। उन सुन्दर चरणों की छवि को आकाश अपने अंतस्तल में अंकित करता है!

महादेवी जी का हृदय इसी सुन्दर के लिए व्याकुल है।

प्रकृति में इसी के रूप की छाया वे देखती हैं। इसी की प्रतीक्षा करती हैं। इसी को प्रिय और निष्ठुर कहती हैं। इसी को मृदु-उपालम्भ देती हैं। इसी की मनुहार करती हैं। इसीके लिए उनका हृदय घुल-घुल कर बहा है। इसीके लिए रात-दिन रोती रहती हैं!

महादेवी के साध्य की एक विशेषता जिसे हम प्रेम का प्राण कह सकते हैं यह है कि वह प्रेमपात्र ही नहीं प्रेममय भी है। उसके हृदय भी है। वह प्रेमलीला का साक्षी ही नहीं, अभिनेता भी है। वह आकर्षित करता ही नहीं, आकर्षित होना भी जानता है। जिस प्रकार आत्मा परमात्मा के प्रेम में विह्वल रहती है, उसी प्रकार परमात्मा भी आत्मा के लिए आकुल। रात्रि में सुरभि बन कर वह थपकियाँ देता और प्रभातकाल में वही स्वप्न-शाला में यवनिका डालकर अपने कोमल करों से प्रेमिका के दृगों को खोलता है। इसी प्रकार झंझा की ध्वनि में भी उसका मौन-निमंत्रण मिलता तथा संध्या उस ओर से दूती के समान मनुहार करती प्रतीत होती है।

१. आज किसी के मसले तारों
की वह दूरागत झंकार,
मुझे बुलाती है सहमी-सी
झंझा के परदों के पार।

२. नव इन्द्रधनुष सा चीर
महावर अंजन ले
अलि गुञ्जित मीलित पंकज—
नूपुर रुन झुन ले
फिर आई मनाने साँझ

मैं बेसुध मानी नहीं !

महादेवी जी की रहस्यभावना में प्रेम का यह खेल इसलिये संभव हुआ कि आत्मा परमात्मा से पृथक होने पर भी भाव-सूत्र से बँधी रही । अतः साध्य के साथ उन्होंने अपनी अथवा आत्मा की सम्बन्धाभिव्यक्ति इन सरणियों से की है—

(१) आत्मा परमात्मा के गुणों का प्रतिनिधित्व करने वाली उसका अंश है जैसे लहर और समुद्र अथवा किरण और चाँदनी ।

(२) वह पृथक होकर पृथ्वी पर आती है ।

(३) वह पृथ्वी के सुखों का उपभोग करती और सुख-सौन्दर्य की सृष्टि करती है ।

(४) परमात्मा भी उधर प्रणयिनी आत्मा के लिए विह्वलता का अनुभव करता है ।

(५) परमात्मा के इङ्गित या आह्वान पर आत्मा सृष्टि के खेल को अधूरा छोड़ उसमें लीन हो जाती है ।

इस विचार-पद्धति का मार्मिक काव्य-रूप देखिए :—

—मैं और तू—

तुम हो विधु के बिम्ब और मैं
मुग्धा रश्मि अजान,
जिसे खींच लाते अस्थिर कर
कौतूहल के बाण;
कलियों के मधु प्यालों से जो
करती मदिरा पान,

झाँक, जला देती नीड़ों में
दीपक सी मुस्कान;
ओस धुले पथ में छिप तेरा
जब आता आह्वान,
भूल अधूरा खेल तुम्हीं में
होती अन्तर्धान !

× × ×

तुम अनंत जलराशि उर्म्मि मैं
चंचल सी अवदात,
अनिल-निपीड़ित जा गिरती जो
कूलों पर अज्ञात;
हिम शीतल अधरों से छूकर
तप्त कणों की प्यास,
बिखराती मंजुल मोती से
बुद्-बुद् में उल्लास;
देख तुम्हें निस्तब्ध निशा में
करते अनुसंधान,
श्रांत तुम्हीं में सो जाते जा
जिसके बालक प्राण !

× × ×

तुम परिचित ऋतुराज मूक मैं
मधुश्री कोमलगात,
अभिमंत्रित कर जिसे सुलाती

आ तुषार की रात;
पीत पल्लवों में सुन तेरी
पदध्वनि उठती जाग,
फूट फूट पड़ता किसलय मिस
चिर संचित अनुराग;
मधु जाता अलि, जब कह जाती
आ संतप्त बयार,
मिल तुझमें उड़ जाता जिसका
जागृति का संसार !

× × × ×

स्वरलहरी में मधुर स्वप्न की
तुम निद्रा के तार,
जिसमें होता इस जीवन का
उपक्रम उपसंहार,
इंद्रधनुष के रंगों से भर
धुँधले चित्र अपार,
देती रहती चिर रहस्यमय
भावों को आकार;
जब अपना संगीत सुलाते
थक वीणा के तार,
घुल जाता उसका प्रभाव के
कुहरे का संसार !

× × × ×

साध्य : परम तत्त्व

मैं तुमसे हूँ एक, एक हैं
जैसे रश्मि प्रकाश;
मैं तुमसे हूँ भिन्न, भिन्न ज्यों
घन से तड़ित्-विलास!
मुझे बाँधने आते हो लघु
सीमा में चुपचाप
कर पाओगे भिन्न कभी क्या
ज्वाला से उत्ताप?

साधिका : आत्म-तत्त्व

ऐसे प्राणियों के अतिरिक्त जिनका काम उठना-बैठना, खाना-पीना, सोना और मर जाना है, सृष्टि में ऐसे भी प्राणी है जो कभी-कभी चिंतन भी करते हैं। आधुनिक-काल की कार्य-व्यग्रता ने चाहे हमारे चिंतन के क्षणों को छीन लिया हो, पर भीतर से बराबर प्रश्न उठते रहते हैं। मानव कब तक निर्दयता से उन प्रश्नों का कण्ठ-रोध करेगा ? उनकी वाणी को, चाहे वह कितनी ही क्षीण क्यों न हो, वह कब तक न सुनेगा ? मैं क्या हूँ ? सृष्टि क्या है ? सृष्टि को रचने वाला कौन है ? जिसने अभी 'मैं' कहा वह कहाँ से आया ? प्रकृति कहाँ से आई ? मानव में जड़ और चेतन का मेल कब हुआ ? कैसे हुआ ? हुआ भी कि नहीं ? यह सारी उलझन इन्द्रजाल तो नहीं है ? प्राणी की यह कैसी विवशता है कि न उसे अतीत की सुधि है, न भविष्य का ज्ञान ? बुद्धि उस देश को जिसमें मानव घिरा है और उस काल को जिसमें उसका विकास हुआ बतलाते हैं चीरती हुई क्या वहाँ पहुँच सकती है जहाँ वह अपने शुद्ध रूप में था ? इन कौतूहालों का विश्लेषण रहस्यवादी करता है। वह जिस प्रकार अपने बनाने वाले के विषय में जिज्ञासा-भावना से पूर्ण होता है उसी प्रकार अपने विषय में भी। जीवन सम्बन्धी महादेवी जी के ये प्रश्न अत्यन्त सरल होते हुए उत्तर देने की दृष्टि से कितने जटिल हैं ?—

जीवन दीप

किन उपकरणों का दीपक ?
किसका जलता है तेल ?
किसकी वर्त्ति ? कौन करता
इसका ज्वाला से मेल ?

शून्य काल के पुलिनों पर
आकर चुपके से मौन,
इसे बहा जाता लहरों में
वह रहस्यमय कौन ?

कुहरे-सा धुँधला भविष्य है
है अतीत तम घोर,
कौन बता देगा जाता यह
किस असीम की ओर ?

पावस की निशि में जुगनू का
ज्यों आलोक — प्रसार,
इस आभा में लगता तम का
और गहन विस्तार ?

इन उत्ताल तरंगों पर सह
झंझा के आघात,
जलना ही रहस्य है, बुझना
है नैसर्गिक बात ?

पर संस्कृत हृदय की जिज्ञासा-भावना विफल नहीं होती। प्राणी की चेतना नित्य-चेतन के लिए पुकार मचाती ही रहती है। कभी-कभी 'कहाँ से आई हूँ' जैसी स्मृति खटकती है। इतनी-

सी बात समस्त रहस्योद्घाटन की जननी बनती है। आत्मा के दिव्य सम्बन्ध का मन में रक्षित-संस्कार विस्मृति के पटलों को धीरे-धीरे हटाता हुआ बुद्धि को वहाँ ले जाता है जहाँ अपनी पूर्णता में कोई 'काल-सीमा-हीन' निष्क्रिय था। एक दिन उसके हृदय में भी अभाव की भावना जागरित हुई और उसने मिट्टी का एक पुतला बनाकर वेदना से निर्मित प्राणों का उसमें संचार किया—

> काल-सीमा हीन सूने, में रहस्यनिधान !
> मूर्तिमत् कर वेदना तुमने गढ़े जो प्राण,
> धूलि के कण में उन्हें बन्दी बना अभिराम
> पूछते हो अब अपरिचित से उन्हीं का नाम !

जब महादेवी जी 'मैं' कहती हैं तब उसके दो अर्थ होते हैं। कहीं तो केवल आत्मा के लिए इस शब्द का वे प्रयोग करती हैं; पर अधिकतर 'मैं' से उनका तात्पर्य प्राणी से रहता है जिसके जड़-शरीर में चेतन बद्ध है। जहाँ जन्म-जन्मान्तर के उपरान्त भी हृदय में बराबर प्रेम बने रहने या 'अमर सुहागिन' की बात उठायी जाती है वहाँ आत्मा पर दृष्टि रहती है और जहाँ मिटने की, सुख दुःख की, मधु-विष की वहाँ प्राणी पर।

महादेवी जी के गीतों को पढ़ते समय एक धोखा बार-बार होगा। अतः प्रारम्भ में ही उसे स्पष्टता से समझ लेना चाहिए वह धोखा है अद्वैत में द्वैत का। साधारण दृष्टि से उनकी रचनाओं में साध्य पृथक, साधिका पृथक प्रतीत होंगे। साधना की दृष्टि से यही स्वाभाविक है। प्रारम्भ में ऐसा ही भान होता है। सामान्य अनुभव सबका ऐसा ही है। कर्म, उपासना, ज्ञान-हमारे

यहाँ का यही क्रम रहा है। सात्त्विक कर्मों द्वारा मनुष्य अन्तःकरण को शुद्ध करता है। उपासना द्वारा भगवान में रक्त होता है। फिर एक दिन इस निर्णय पर पहुँचता है जिसको मैं उपासना कर रहा हूँ वह मुझसे भिन्न नहीं है। र देवी जी के शब्दों में उपासक और उपास्य की अभिन्नता के इतना कहना यथेष्ट होगा—उपासक ही होगा आराध्य। कह है कि महादेवी जी भाव-योग में लीन हैं, अतः कर्म-चर्चा के लि तो उनके काव्य में स्थान नहीं है। अब रहे उपासना और ज्ञान इस समय ज्ञान की भूमि पर महादेवी जी की उपासना चल र है। रहस्यवाद ज्ञान और भाव का ग्रन्थिबंधन ही तो है। पाठ के हृदय में संशय उत्पन्न करने वाली जिस बात का उल्लेख ऊप हुआ है वह यह है कि माधुर्यभाव की इस उपासिका की रचनाओं में अपने को स्थान-स्थान पर परमात्मा का अंश कहा गया है। महादेवी जी अद्वैतवाद में एक प्रकार से बहुत गहरी डूबी हुई हैं। अतः अंशांशी भाव की चर्चा होते ही उनमें विशिष्टाद्वैत का भ्रम हो सकता है। शब्दों पर ध्यान न देकर हमें कवि को भावधारा के मूल में पैठी और उसे परिचालित करने वाली वृत्ति को परखना चाहिए। इस तत्त्व को न परख कर केवल शब्दों को—शब्दों को भी पूर्णरूप से नहीं—पकड़ कर कोई-कोई विद्यापति में रहस्यवाद ढूँढ़ते हैं और जब बात पूरी नहीं बैठती तो अपने नवीन नियम गढ़ते हैं; और दूसरी ओर कुछ लोग तुलसी को अद्वैतवादी सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। महादेवी में अंशांशी भाव तो है; पर सबके मूल में अद्वैतवाद झलक रहा है। वे यह मानती हैं कि सृष्टि की रचना हुई, एक से बहु हुए। यह भी मानती हैं कि वह महान् है, अतः उपास्य या प्रियतम है। पर उस निठुर से प्रश्न

करते समय इन बातों से आगे बढ़ कर यह भी जानती हैं कि उसकी खोज अपनी ही खोज है :—

निठुर क्यों फैला दिया यह उलझनों का जाल,
आप अपने को जहाँ सब ढूँढ़ते बेहाल !

सीमा के बन्धनों को स्वीकार करके उसके नियमों से शासित होना पड़ता ही है। प्राणी द्वन्द्वों का विहार-स्थल है। जग और ब्रह्म उसके दो कोने हैं। जग की जड़ता और ब्रह्म की चेतनता दोनों का वह प्रतिनिधि है। उसका शरीर जड़ जगत का अंश है, आत्मा चेतन का। परमात्मा आनन्द-स्वरूप है, जग दुःख-रूप। जगत के विष और चेतन के अमृत दोनों का वह भागी है। वह सुख-दुःख, करुण-मधुर का प्रतीक है। इसी बात को लेकर महादेवी जी ने 'मैं पहेली हूँ' 'मेरी बात पहेली है' ऐसी बातें कहीं हैं। पर यह तथ्य कम से कम भारतीय विचारकों के नित्य-परिचय का है।

जीव को ब्रह्म से जब पृथक होना पड़ता है तब उसका सबसे अप्रिय परिणाम यह होता है कि वह अपने स्वरूप को विस्मृत कर बैठता है। जीव परमात्मा का ही अंश है, पर उससे पृथक होते ही उस दिव्य सम्बन्ध की अनुभूति से वह दिन-दिन दूर पड़ता जाता है। ऐसा घोर स्वरूप-परिवर्तन होता है, दूरी की दीवार कुछ लम्बी ही नहीं इतनी ऊँची भी उठती जाती है कि जहाँ आत्मा परमात्मा का एकाकार था वहाँ दो का अभिशाप जीव को अनेक प्रकार के दोषों का आखेट-स्थल सा बना लेता है। जैसे कमल में जब तक गन्ध है तब तक तो वह उसकी है पर जब वायु गन्ध को चुरा ले जाती है तब उस गन्ध को न सर की सुधि रहती है और न सुमन की। इसी प्रकार ब्रह्म रूपी कंज से निसृत जीव रूपी गन्ध को जब विश्व-समीर चुरा लाता है तब इस जीव

ो न अपने अमरलोक का ध्यान रहता है और न दिव्
का। बादल से टपकी बूँद यद्यपि बादल ही की है, पर
पंक में पतित होती है तब सभी यह कहने लगते हैं।
की बूँद है; अतः इस उज्ज्वल जीव में मलिन पृथ्वी के
से मलिनता का भी मिथ्या आरोप होता है। सरिता को ही
जब वह गिरि-उर को छोड़ती है और समुद्र के खारी
भेंट करती है तब उसका मधुर जल भी खारा हो जाता है
आत्मा की मधुरता भी इस जगत् के खारे जल में—दुःख
खारी सी प्रतीत नहीं होती? इस प्रकार आत्मा और परम
के स्वरूप में भेद डालने वाली दो बातें हुईं—

१—आत्मा का परमात्मा से पृथक होकर पृथ्वी पर आ
जिससे दिव्यता, आनन्द और महानता के गुणों पर पर्दा
और संसार के सम्पर्क या शरीर में बन्दी होने से मलिनता, दु
और क्षुद्रता के गुणों का आरोप हुआ।

२—जीव का आवागमन के चक्कर में पड़ना, जिस
मानव को कमल पर जलबिंदु, आँखों से ढुलते आँसू, वीणा
तारों से निकले स्वर, ध्वनि का अनुकरण करनेवाली प्रतिध्वनि,
समुद्र में बनने मिटने वाले बुद्बुदों के समान नित्यता के स्थान
पर अस्थिरता, क्षणभंगुरता के विशेषण मिले।

साध्य-साधक सम्बन्ध को लेकर महादेवी जी की अपनी
विशेषता यह है कि और सभी ब्रह्म के प्रेमियों की पंक्ति में बैठ-
कर उन्होंने ब्रह्म की महत्ता तो स्वीकार की ही है, पर आत्मा या
साधिका की महत्ता की घोषणा भी उन्होंने बराबर की है। वे
जानती हैं कि शरीर में बँधने से चेतन अपने महान रूप में सामने
नहीं आता, पर इससे उसकी महत्ता में बट्टा नहीं लग सकता।

पहिली बात तो यह है कि असीम ससीम का ही व्यापक रूप है। अपार अगाध समुद्र क्या है? छोटी-छोटी लहरों का समूह। बादल क्या है? बूँदों का समूह। रेगिस्तान क्या है? रेणु का ढेर। बड़े छोटों के बल पर ही बड़े हैं। छोटों के बिना बड़ों की कल्पना भी नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि परमात्मा की महत्ता को घोषित करने वाला प्राणी ही है। यदि सृष्टि न होती, प्राणी न होते तो ब्रह्म की महत्ता को कौन जानता? उसके अतिरिक्त यदि और कुछ न होता तो उसे कौन पहचानता? महादेवी जी के प्रेम में पत्नी का आत्म-समर्पण नहीं प्रेमिका का गर्व है जो बहुत सुन्दर प्रतीत होता है—

क्यों रहोगे क्षुद्र प्राणों में नहीं
क्या तुम्हीं सर्वेश एक महान हो ?

यह साधिका अविराम साधना में लीन है। जैसे जैसे वह घुल रही है वैसे ही वैसे वह अपने प्रियतम के निकट आ रही है। जन्म-जन्मान्तर से उसका काम रहा है जलना, घुलना, मिटना और मिट मिट कर निकटतर आना। दूसरी ओर सृष्टि के प्रति अपने कर्त्तव्य को भी वह भूली नहीं है। इस कर्त्तव्य का निर्वाह किया है उसने जगत को करुणा का एक अमिट संदेश देकर। प्रेम के कंटकाकीर्ण पथ पर करुणा के फूल बिछाती हुई आलोक की यह पुतली अपने आगे पिछे अनन्त पथ के अन्धकार को चीरती हुई अक्षय आलोक की क्रीड़ में क्रीड़ा करने जा रही है—

(अ) मैं करुणा की वाहक अभिनव
(आ) ......दीप-सी मैं
आरही अविराम मिट मिट
स्वजन और समीप सी मैं

———

साधना-भूमि : प्रकृति तत्त्व

शरीर साधना-यंत्र होते हुए भी और प्रकृति को साधना-भूमि जानते हुये भी साधकों ने शरीर और प्रकृति दोनों से असंतोष प्रकट किया है, दोनों को ब्रह्म प्राप्ति में बाधक माना है। शरीर का कारागार यदि टूट जाता और प्रकृति का व्यवधान बीच से उठ जाता तो आत्मा और परमात्मा के मिलन में फिर कोई अंतराय न रहती। प्राणी और परमात्मा का ऐसा सम्बन्ध है जैसे—'जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी।' अतः बाहर और भीतर के पानी के मिलने के लिए कुंभ के टूटने की आवश्यकता जैसे कबीर ने बतलाई है वैसे ही ब्रह्म के निवास-स्थान के विषय में कहा है—

मैं तो रहों सहर (सांसारिक हलचल) के बाहर।

पर महादेवी जी ने प्रकृति को अत्यन्त सहानुभूति की दृष्टि से देखा है। वह प्यारी इसलिए हो उठी है कि उसी के माध्यम से उन्होंने प्रियतम की झलक पाई है; और अभिन्न इसलिए कि वह उन्हें उनके साधना-यज्ञ मे आहुति का काम देती है, प्रेम के भावोद्दीपन में सहायक है। कोकिल की वाणी उनके हृदय में करुण भावों का संचार करती, अनिल प्रिय का संदेश वहन करता, बेंत के वनों का निस्वन करुण विहाग गाता प्रतीत होता है।

शेफाली जब सकुचाती लजाती हुई खिलती है तब महादेवी भी न जाने क्या क्या सोचने लगती हैं और 'सात्विकों' को शरीर पर अधिकार जमाते देख बड़े भोलेपन से पूछती हैं—

पुलक पुलक उर, सिहर सिहर तन
आज नयन आते क्यों भर भर ?

एकाध स्थल पर जो उन्होंने प्रकृति के बन्धनों को तोड़ने की बात कही है वह उत्सुकता की अतिशयता व्यंजित करने के लिए जैसे—

तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूँ उस ओर क्या है !
जा रहे जिस पंथ से युग कल्प उसका छोर क्या है ?

प्रकृति में महादेवी जी ने अधिकतर ऐश्वर्यमयी दृष्टि डाली है—चाँदी की किरणें, सोने से तारे, मोती सी ओस की बूँदें, मोती सी रातें, नीलम के बादल, इंदुमणि जैसे जुगनू, प्रवाल सी ऊषा, सोने के दिन; इसी प्रकार स्वर्ण-पराग सी सांध्य-गगन की लालिमा। उन्हें काले बादलों में बिजली ऐसी लगती है जैसे नीलम के मन्दिर में हीरक प्रतिमा; उनके निशि-वासर कनक और नीलम-यानों पर दौड़ते हैं; मेघ चूनर स्वर्ण-कुंकुम में बसाकर रँगी जाती है; तारे ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे रजनी ने नीलम-मंदिर के वातायन खोल दिए हैं। आशङ्का है कोई प्रगतिवादी इनमें पूँजीवाद की छाया न देखने लगे। अब तो हिन्दी के बड़े-बड़े कवि भी गुलाब के फूल में गरीबों का रक्त देखने लगे हैं। बात यह है कि हमारी साधिका ब्रह्म की सुहागिन है। उस महान ऐश्वर्यशाली की प्रेमिका के लिए चाँदी, सोना, मोती, प्रवाल, नीलम, पुखराज सामान्य वस्तुएँ न होंगी तो किसके लिए होंगी ?

बीच बीच में रम्य खण्ड-दृश्यों को उपस्थित करने के अति-रिक्त महादेवी जी ने प्राकृतिक वस्तुओं के पूर्ण-चित्र भी अङ्कित किये हैं जैसे रजनी, प्रभात, संध्या, वर्षा, बादल आदि के। सामान्य दृष्टि से ये रचनाएँ ऐसी प्रतीत होंगी मानो रहस्यवाद के प्रभाव से मुक्त हों। जैसे अन्य प्रकृति-प्रेमी प्रकृति-दर्शन से प्रभावित होते हैं उसी प्रकार महादेवी जी भी रमी हुई प्रतीत होंगी। परन्तु जब इन रचनाओं की अन्तिम पंक्तियों तक हम पहुँचते हैं तब ये भी सोद्देश्य प्रतीत होती हैं। यदि रात्रि है तो कवि-प्रथानुसार जहाँ सन्ध्या की मिटती लालिमा, पत्रों के मधुर मर्मर, मुँदते कमल में गूँजते अलि, लालिमा पर छा जाने वाले तम मोती से नक्षत्रों, उज्ज्वल रश्मियों, मदिर वात एवं धवल चन्द्र आदि का वर्णन है, वहाँ कवयित्री ने अवनि के पुलकित होने में 'प्रिय के पद-चाप' को कारण माना है। प्रभात में जहाँ तारक-सुमनों के झड़ने की, स्वर्ण-किरणों के पृथ्वी पर उतरने की, मेघों के रँगने की, पुष्पों में लालिमा भरे जाने की चर्चा है, वहाँ प्रभात-बाला से स्वप्नमग्न पलकों को न खोलने की विनय भी है। कबीर के समान — 'सपने में साँई मिले सोते लिया जगाय, आँखि न खोलूँ डरपतामत सपना हो जाय"—वाले पश्चाताप का सामना न करना पड़े। संध्या समय जहाँ तम में अरुणिमा को घोला है, जहाँ श्याम, अरुण, पीत आभा वाले मेघ दृष्टि-पथ में आए हैं, जहाँ पक्षियों को नीड़ों की ओर जाते देखा है, वहाँ सन्ध्या-सुन्दरी को 'प्रिय' की स्मृति में मग्न भी छोड़ दिया है। वर्षा-वर्णन में जहाँ श्याम मेघों का, टपकती बूँदों का, विद्युत् का जुगनुओं का, बग-पंक्ति का, मयूरों का उल्लेख है वहाँ संतप्त उदास जग को शीतल करने और दुलराने की बात भी उठाई है जिसमें भगवान की करुणा

की ओर संकेत है। पावस काल के उन बादलों को देख जो पृथ्वी, चातक और मयूरों के लिए नव-संदेश लाते हैं कहीं तो वे अपनी भरी अँखियों की पलक-पँखुड़ियों को ऊपर उठाकर यह पूछती हैं कि हे नवीन घन कुछ मेरे लिए भी संदेश लाए हो, और कहीं उनसे ध्वनि न मचाने की प्रार्थना करती हैं क्योंकि उससे व्याकुल सुधि के, जिसके पलक अभी लगे हैं, जग जाने की आशंका है। इसी प्रकार जहाँ भ्रमर, पतंग, मीन, चकोर, कमल, पर्वत सामने आए हैं वहाँ प्रेमादर्श की व्यंजना के लिए। इन कविताओं को लेकर यह कहने लगना कि महादेवी जी में स्वतन्त्र प्राकृतिक वर्णनों की सामर्थ्य नहीं है, उचित नहीं है। उनकी दृष्टि से सारी सृष्टि ब्रह्म के स्नेह में आकुल और मग्न है, अतः इन्हीं रूपों में उसका हमारे सामने आना स्वाभाविक है। इन भावों की व्यंजना और आरोप ही इनका सौंदर्य है।

कुछ चित्र देखिए। इन पंक्तियों के अंत में दार्शनिकता या अध्यात्म का पुट अनिवार्य रूप से है, परन्तु जिस प्रकार की रम्य कल्पनाएँ महादेवी जी ने की हैं, दार्शनिक या अध्यात्मवादी क्या वैसी सौंदर्य की भाषा में कभी सोच सकता है?

(१)

ओ अरुणवसना!

छू मृदुल जावक-रचे पद
होगये सित मेघ पाटल;
विश्व की रोमावली
आलोक-अंकुर सी उठी जल!
बाँधने प्रतिध्वनि बढ़ीं लहरें, बजी अब मधुप-रशना।

सपनों का रूप तम ने
रात भर रो रो मिटाया;
देखना तेरा क्षणिक फिर
अमिट सीमा नाँघ आया !
दृष्टि का निक्षेप है बस रूप – रंगों का तरसना !

(२)

लाये कौन सँदेश नये घन।
चौंकी निद्रित,
रजनी अलसित,
श्यामल पुलकित कंपित कर में दमक उठे विद्युत् के कंकण !
लाये कौन सँदेश नये घन !
सुख दुख से भर
आया लघु उर,
मोती से उजले जलकण से छाये मेरे विस्मित लोचन !
लाये कौन सँदेश नये घन !

(३)

आज सुनहली वेला !
आज क्षितिज पर जाँच रहा है तू जो कौन चितेरा !
मोती का जल, सोने की रज, विद्रुम का रंग फेरा !
क्या फिर क्षण में,
सांध्य गगन में,
फैल मिटा देगा इसको
रजनी का श्वास अकेला !

कितने भावों ने रँग डालीं सूनी साँसें मेरी
स्मिति में नव प्रभात, चितवन में संध्या देती फेरी;

उर जलकणमय
सुधि रंगोंमय,
देखूँ तो तम बन आता है
किस क्षण वह अलबेला !

(४)

यह संध्या फूली सजीली !
आज बुलाती हैं विहगों को नीड़ें बिन बोले;
रजनी ने नीलम-मंदिर के वातायन खोले;
एक सुनहली उर्म्मि क्षितिज से टकराई बिखरी,
तम ने बढ़कर बीन लिए, वे लघुकण बिन तोले !

अनिल ने मधु-मदिरा पी ली !

मुरझाया वह कंज बना जो मोती का दोना;
पाया जिसने प्रात उसी को है अब कुछ खोना;
आज सुनहली रेणु मली सस्मित गोधूली ने,
रजनीगंधा आँज रही है नयनों में सोना !

हुई विद्रुम वेला नीली !

मेरी चितवन खींच गगन के कितने रँग लाई !
शत रंगों के इंद्रधनुष सी स्मृति उर में छाई,
राग-विरागों के दोनों तट मेरे प्राणों में,
श्वासें छूतीं एक, अपर निश्वासें छू आईं !

अधर सस्मित, पलकें गीली !

आलङ्कारिक रूप में भी जहाँ प्रकृति के दृश्यों का उपयोग किया गया है वहाँ भी किसी रहस्यभाव के सम्बन्ध से, जैसे 'गुलाब सी प्रात' में गुलाब के समावेश से प्रभात में रंगीनी, कोमलता, स्फूर्ति और आह्लाद प्रदान करने की जो व्यंजना है वह पुष्प के मुरझाने पर एक मूर्त आधार द्वारा सौंदर्य की क्षणिकता का आभास दे हृदय पर गहरी चोट मारकर सौंदर्य के मूल अजस्र स्रोत की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए। इसी प्रकार सिंधु को उदाहरण के लिए इसलिए चुना है कि उससे लहर और जल का गोचर दृश्य उपस्थित कर आत्मा-परमात्मा की अभिन्नता स्थापित की जा सके। 'पर्वत' को उपमा के रूप में इसलिए आगे खड़ा किया है कि मृत्यु से जीवन का विकास दिखाने के लिए कठोर पत्थर से बहने वाली जलधारा का रूप बोध-गम्य हो सके। और 'आकाश' को अप्रस्तुत के रूप में इसलिए रखा है कि जिस प्रकार उसके वक्ष पर नक्षत्रों के दीप जलते, बादल पिघलते, बिजली कड़कती, रात-दिन स्वर्ण एवं नीलमयानों पर चढ़कर दौड़ते और उसे विचलित नहीं कर पाते, इसी प्रकार अनेक परिवर्तनों के आधार ब्रह्म में असख्य लोकों के सृजन और विनाश होने पर भी किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं हो सकता, उसकी निर्विकार स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। ज्ञानी और रहस्यवादी में इतना ही अन्तर है, तार्किक और भावुक में इतना ही भेद है कि दोनों बात तो एक ही कहते हैं, पर एक अपनी बात को हृदय में बसाने की सामर्थ्य नहीं रखता दूसरा रखता है, क्योंकि एक के पास हृदय है दूसरे के पास नहीं।

यदि किसी रम्य दृश्य की वर्णन-पटुता ही देखनी है तब हिमालय पर मँडराते इन काले बादलों को देखिए। इस चित्र में

'रूप' की रेखाएं कितनी स्पष्ट और सजीव तथा 'वर्ण' की तूलि-काएँ कितनी उपयुक्त और सधी हैं। साथ ही बादलों के घिरने घुमड़ने से चित्र को जा 'गति' प्रदान की है उसे चित्रकार किस कौशल से प्रदर्शित करेगा ?

तू भू के प्राणों का शतदल !
सित क्षीरफेन हीरक-रज से
जो हुए चाँदनी में निर्मित,
पारद की रेखाओं में चिर
चाँदी के रंगों से चित्रित,
खुल रहे दलों पर दल झलम !
सीपी से नीलम से द्युतिमय,
कुछ पिंग अरुण कुछ सित श्यामल,
कुछ सुख-चञ्चल कुछ दुख-मंथर
फैले तम से कुछ तूल-विरल,
मंडराते शत शत अलि-बादल !

अन्य भावों के अतिरिक्त महादेवी जी ने प्रकृति से अस्थि-रता, नश्वरता या अनित्यता का भाव भी ग्रहण किया है। यह इसलिए कि सत्, अविनश्वर, नित्य की ओर ध्यान जा सके। जीवन और जगत् का मधुदिन अस्थिर है, गुञ्जन अस्थिर है, मधुमद वितरण अस्थिर है; अतः इस संसार को क्या प्यार करना ? ऊँचे उठकर उसे ही प्रेम करने में सार्थकता है जो चिर सुन्दर, चिर मधुर है। संध्या का रंगीन चित्र तम की एक श्वास से ही मिट जाता है, रंगीन मेघ क्षण भर ही रह पाते हैं, मोती के ओसकण भरकर जो कंज प्रभात काल में प्रस्फुटित होते हैं वे सन्ध्या तक म्लान पड़ जाते हैं, मुरझा जाते हैं।

अब प्रकृति सम्बन्धी महादेवी जी के मानसिक-विकास को देखना चाहिए।

नीरजा के अन्तिम गीत 'केवल जीवन का क्षण मेरे' में उन्होंने प्रकृति के आकर्षणों को स्वीकार किया है। जीवन के पल थोड़े हैं, किसे दिये जायें किसे न दिए जायँ? प्रभात रात, विद्युत घन, आकाश सुमन, निर्झर समीर, नक्षत्र सागर सभी अपने अनन्त ऐश्वर्य को लिए प्राणी के पलों के भिक्षुक हैं। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है जैसे प्रकृति ब्रह्म के प्रेम में बाधा डालती है, बटवारा चाहती है। पर प्रकृति स्वयं उसी के प्रेम में लीन है जिसके प्रेम में महादेवी। पुष्प अपने विस्मय-विस्फारित नेत्रों से किसी का मार्ग तकते हैं, अंधकार बिजली के दीप जलाकर किसी को खोजता फिरता है, संध्या नक्षत्रों के दीप जलाकर किसी की प्रतीक्षा करती है, पवन अपना प्रियलोक छोड़ने पर पश्चात्ताप प्रकट करता है। घनों का झुकना, अम्बर का अञ्चल फैलाना, रात का रोना, कलियों और निर्झर का अश्रुमय होना, स्नेह भर कर तारों का जलना, सागर की लहरों का प्यासा घूमना महादेवी के ही लिए नहीं है, महादेवी के प्रियतम के लिए भी है। वास्तव में सारी सृष्टि ब्रह्म के लिए ही बावली है, पर वह बाहर से सुन्दर है अतः आकर्षित करती सी प्रतीत होती है। अतः प्रारम्भ में जो प्रकृति प्रेम में व्याघात उत्पन्न करती दिखाई देती थी वह एक ही पथ की पथिक होने से सखी सिद्ध हुई। ये दोनों ही शृङ्गार करती हैं, दोनों ही विरह-व्यथिता हैं, दोनों ही अभिसार के लिए तत्पर होती हैं और दोनों ही का मिलन होता है। भाव विकास होते होते महादेवी जैसे इस निश्चय पर पहुँचती हैं कि वे और ब्रह्म दो नहीं हैं उसी प्रकार इस निश्चय पर पहुँची हैं कि प्रकृति भी उनसे भिन्न नहीं

है। उनके काव्य ग्रन्थों में कुछ पंक्तियाँ ऐसी हैं जो इस बात का संकेत करती हैं कि प्रकृति के बाह्य परिवर्तनों या दृश्यों को मानव-अनुभूति से खंडित करके वे नहीं देखतीं। सारी सृष्टि में जिसमें जड़ चेतन दोनों सम्मिलित हैं एक व्यापक मन की कल्पना ऐसी कल्पना है जिससे ऊँचा उपासक की स्थिति में कवि नहीं उठ सकता। इससे ऊँची एक ही स्थिति है। वह है उपासक और उपास्य का एक हो जाना। प्रकृति में महादेवी जी ने अपने व्यक्तित्व को कैसे समाहित कर दिया है पहले यह देखिए—

> फैलते हैं सांध्य-नभ में भाव ही मेरे रँगीले,
> तिमिर की दीपावली हैं रोम मेरे पुलक गीले।

अतः प्रकृति को लेकर भाव-विकास की तीन स्थितियाँ हुईं :

१—महादेवी जब ब्रह्म की ओर जा रही हैं तब प्रकृति अपने सम्पूर्ण सौंदर्य से उन्हें अपनी ओर आकर्षित करती है।

२—प्रकृति महादेवी को अपने समान ही ब्रह्म की प्रेमिका प्रतीत होती है।

३—बाह्य प्रकृति आभ्यतर प्रकृति की प्रतिच्छाया मात्र है।

दार्शनिक आधार

चिन्तन रहस्यवादी के जीवन का एक अनिवार्य अङ्ग है। रहस्यवादी एक अनुभूति-प्रधान दार्शनिक है। कबीर जैसे रहस्य-वादियों की रचनाओं में भी, जिन्हें व्यवस्थित रूप से शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था और जिन्होंने सत्सङ्ग से ही शास्त्र की बातों की जानकारी प्राप्त की थी, वैदान्तिक प्रक्रिया से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत सी ऐसी बातें पाई जाती हैं जिनकी परिभाषा जाने बिना अर्थ नहीं खुल सकता, जैसे 'भाग त्याग लक्षणा' के आधार पर छांदोग्य उपनिषद् के 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ को खोलने के लिए "तत पद त्वं पद और असी पद् 'वाच' 'लक्ष्य' पहिचाने, 'जहद लक्षणा' 'अजहद' कहते 'अजहद जहद' बखाने" वाले वर्णन में लक्षणा के भेदों का ज्ञान। फिर सुशिक्षिता महादेवी जी की रचनाओं में यदि वेदान्त शास्त्र सम्बन्धी बहुत सी उक्तियों, धारणाओं और अनुभूतियों का 'अनुवाद' मिले तो क्या आश्चर्य है ?

'नीहार' एक अनुभूति प्रधान ग्रन्थ है। उसमें चिंतन को बहुत कम अवकाश मिला है। हृदय के झकझोरे जाने का ही वह परिचय देता है। जिस समय रई जमे हुए दही को केवल फोड़-कर क्षुब्ध करती है उस दशा को 'नीहार' व्यक्त करता है, परन्तु मन्थन होने से धीरे धीरे नवनीत के जो कण ऊपर आते हैं वे आगे की बात हैं। 'नीहार' की रचनाओं से हमें इतना ही पता

चलता है कि सभी संसारी जीवों की भाँति सामान्य गति से चलने वाले उनके जीवन में सहसा परिवर्तन उपस्थित हुआ। किसी के रूप-दर्शन की स्मृति बार बार उनके हृदय में खटकती है। इन्हीं रचनाओं में प्रिया-प्रियतम का सम्बन्ध स्थापित होता है। इसके उपरान्त उनके हृदय को वैराग्य की ओर मुड़ते देखते हैं। यहाँ चिंतन का प्रवेश होता है। इस मायात्मक जगत से विरक्ति उत्पन्न करना साधकों का लक्ष्य रहा है। महादेवी जी ने भी कहा है 'सखे, यह है माया का देश।' संसार की अस्थिरता, क्षणभंगुरता, निष्ठुरता, निर्ममता उसके स्वार्थ और विश्वासघात का प्रतिपादन भी है। संसार से वैराग्यवान होने के साथ एकान्त की प्रेमिका भी वे दिखाई देती है। प्रकृति भी उन्हें ब्रह्म के लिए व्याकुल दिखाई देती है। यही तक नहीं, वह चंचल भी प्रकृति से छेड़छाड़ करता प्रतीत होता है। अतः महादेवी सोचती ही रह जाती हैं कि जो मन में छिपा बैठा है वह बाहर कैसे शरारत करता फिरता है?

घूंघट पट से झाँक सुनाते
अरुणा के आरक्त कपोल
'जिसकी चाह तुम्हें है उसने
छिड़की मुझ पर लाली घोल।'
वे मंथर-सी लोल हिलोरें
फैला अपने अञ्चल छोर,
कह जातीं 'उस पार बुलाता
है हमको तेरा चितचोर!'
यह कैसी छलना निर्मम
कैसा तेरा निष्ठुर व्यापार

तुम मन में हो छिपे
मुझे भटकाता है सारा संसार !

इस प्रकार 'नीहार' में 'प्रियतम' पृथक्, 'प्रिया' पृथक् और 'प्रकृति' पृथक् है। प्रियतम को अज्ञात कहते हुये भी इस तथ्य की उपलब्धि इस ग्रन्थ में अवश्य हुई है कि उन्होंने अपने प्रियतम को सबका 'साक्षी' माना है। यहीं से अद्वैतवाद का दृढ़ आधार उन्हें मिलता है। उन्होंने जिसे अज्ञात कहा है और अद्वैतवादी जिसे 'अज्ञेय' कहते हैं उसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह है ही नहीं वह है तो सही, पर मन और बुद्धि को उस तक पहुंच नहीं है। वह 'अवाङ् मनस गोचर' सत्य है। इन्द्रियाँ उसका निरूपण नहीं कर सकती। अनुभव में वह इसलिये नहीं आता कि वह अनुभूतिमय है, दिखाई इसलिये नहीं देता कि वह कोई दृश्य नहीं स्वयं 'देखना रूप' है। उस पर बुद्धि क्या प्रकाश डालेगी वह 'स्वयं प्रकाश' है। बुद्धि को भी वही प्रकाशित कर रहा है। जिससे सब कुछ जाना जाता है उसे किस वस्तु से जाना जाय ?

(अ) वे कहते हैं उनको मैं
अपनी पुतली में देखूँ
यह कौन बता जायेगा
किसमें पुतली को देखूँ !

(आ) येनेदं ज्ञायते सर्वं तत् केनान्येन ज्ञायताम्
पञ्चदशी

(इ) अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति।

(ई) यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति—केन १ । ६

दार्शनिक आधार

महादेवी जी की दूसरी कृति 'रश्मि' उनकी प्रथम प्रौढ़ रचना है। इसके भाव अधिक स्पष्ट, भाषा अधिक प्रांजल और मधुर तथा विचार अधिक स्थिर हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे 'रश्मि' की रचनाओं को प्रारम्भ करने से पहिले महादेवी जी ने कुछ काल तक कतिपय मान्य दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन किया हो 'रश्मि' की ३५ रचनाओं में आधी से अधिक अत्यन्त भावमयी भाषा में आत्मा, प्रकृति और परमात्मा का स्वरूप-निरूपण करती हैं। उनमें सृष्टि, प्रलय और परिवर्तन की चर्चा है। इन सभी रचनाओं में उन्होंने अद्वैतवाद का अनुसरण किया है और विभिन्न उपनिषदों के विचारों की स्पष्ट छाप उनके गीतों पर है। यह दूसरी बात है कि सिद्धान्त प्रतिपादन मौलिक ढंग से हुआ हो, पर विचारों की आत्मा वही है।

अद्वैतवादियों के अनुसार यह दृश्य-जगत मिथ्या है। परमार्थ इतना ही है कि ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सृष्टि कभी हुई ही नहीं। पर भ्रम-काल में भासित होती है जैसे बालू में जल की, सीपी में रजत की और रज्जु में सर्प की प्रतीति। इस भ्रम को दूर करने के लिए उपनिषदों या अन्य वेदान्त ग्रंथों में ईश्वर, जीव और सृष्टि के वर्णन मिलते हैं। मिथ्या वस्तु से भी मिथ्या वस्तु का विनाश सम्भव है जैसे स्वप्न की बन्दूक से स्वप्न के सिंह का। इसी से तत्त्ववेत्ता शङ्का-समाधान के लिए वर्णन के बखेड़े में पड़ते हैं। कहा गया है—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता। मांडूक्य २। ३२
अवाङ्मनसगम्यं तं श्रुतिर्बोधयितुं सदा।

जीवमीशं जगद् वापि समाश्रित्य प्रबोधयेत् ।

यह सृष्टि स्वप्न के समान मिथ्या है—प्रतीत होते हुए भी असत् है। स्वप्न हमारी कल्पनाओं का साकार होना है। रात्रि को हम किसी का स्मरण करते हुए सो जाते हैं। थोड़ी देर में उसका दर्शन कर लेते है। कभी-कभी हम ऐसी वस्तुओं को भी देखते हैं जो उस रूप में बाह्य सृष्टि में नहीं पाई जातीं, जैसे सोने का पर्वत या एक ऐसा जीव जिसका मुख तो सिंह का है और शेष शरीर आदमी का। पर सोना और पर्वत इसी प्रकार सिंह और मनुष्य तो हमारे जाने पहचाने हैं। दो भिन्न वस्तुओं की भावनाओं ने मिलकर स्वप्न में एक विलक्षण रूप धारण कर लिया। कभी कभी और भी विलक्षण परिवर्तन होते हैं जैसे यदि यह इच्छा हो कि हम वायुयान में उड़ें तो स्वप्न में अपने को वायुयान में उड़ता न पाकर यह देख सकते हैं कि हम एक ऊँची दीवाल पर दौड़ रहे हैं, साइकिल पर घूम रहे हैं, नदी में तैर रहे हैं, या आकाश में उड़ रहे हैं। यहाँ केवल गति के स्वरूप में परिवर्तन हो गया है। हमारी कल्पना जब विलक्षण सृष्टि का सृजन कर सकती है तब ब्रह्म की कल्पना जो कर दे वह थोड़ा है। स्वप्नकाल की प्रतीति को जागरण काल में सभी मिथ्या ठहराते हैं। महादेवी जी ने इस सृष्टि को स्वप्न के समान ही माना है—

(अ) शून्यता में निद्रा की बन
उमड़ आते ज्यों स्वप्निल घन

(आ) अद्वितीय ब्रह्मतत्वे स्वप्नोऽयमखिलं जगत् ।

वह अद्वितीय ब्रह्म एक बार एकाकीपन के भार से अकुला उठा—

(अ) हुआ त्यों सूनेपन का भान
प्रथम किसके उर में अम्लान ?
और किस शिल्पी ने अनजान
विश्व-प्रतिमा कर दी निर्माण ?

(आ) सोऽकामयत बहुस्या प्रजायेय ।

(इ) आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । नान्यत्किंचनमिषत् ।
स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति । ऐतरेय । १ ।१ । १

(ई) स इमाल्लोकानसृजत । ऐतरेय १ । १ । २

सृष्टि होने से पहिले सृष्टि का अस्तित्व न था—न व्यक्तेः पूर्वं मस्त्येव—और यह सृष्टि उस अनन्त निर्विकार में हुई—

असङ्गो ह्ययं पुरुषः ।

इन दोनों बातों को कवयित्री ने निम्न प्रकार से स्वीकार किया है :—

(अ) न थे जब परिवर्तन दिन रात
नहीं आलोक तिमिर थे ज्ञात
व्याप्त क्या सूने में सब ओर
एक कंपन थी एक हिलोर ?

(आ) न जिसमें स्पन्दन था न विकार ।

सृष्टि के अभेद के साथ आत्मा और परमात्मा के समान गुणों की और फिर एकाकार की चर्चा भी 'रश्मि' में अनेक प्रकार से हुई है । उदाहरण लीजिये—

(अ) सिन्धु को क्या परिचय दें देव
बिगड़ते बनते वीचि विलास ?
क्षुद्र हैं मेरे बुद्बुद प्राण

तुम्हीं में सृष्टि तुम्हीं में नाश
(अ) मैं तुमसे हूँ एक एक हैं
जैसे रश्मि प्रकाश।

आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता स्थापित करने के लिए महादेवी जी ने जिस प्रकार चन्द्रमा और उसकी किरणों का उदाहरण दिया है उसी प्रकार आत्मा को इन्द्रियों का लयस्थान मानते हुए प्रश्नोपनिषद् में सूर्य और उसकी मरीचियों के उदाहरण द्वारा यह समझाया गया है कि जैसे स्वप्नकाल में सभी इन्द्रियाँ मन में लीन रहकर जाग्रतावस्था में फिर सक्रिय हो जाती है उसी प्रकार सृष्टिकाल में हम किरणों के समान उस पुरुष-दिवाकर से पृथक् होकर भी उसके निष्क्रिय काल में उसी में लीन रहते हैं। देखिए—

(आ) तुम हो विधु के बिम्ब और मैं
मुग्धा रश्मि अजान,
जिसे खींच लाते अस्थिर कर
कौतूहल के बाण,
ओस धुले पथ में छिप तेरा
जब आता आह्वान,
भूल अधूरा खेल तुम्हीं में
होती अन्तर्धान !

(अ) यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्त गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति। ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्ति। —प्रश्न ४।२

माण्डूक्य उपनिषद् के अद्वैत प्रकरण में आत्मतत्त्व को अविकारी सिद्ध करने के लिए आकाश को उदाहरण-स्वरूप

सामने लाया गया है। कहा गया है कि अविवेकी पुरुष ही मल (धुँआ, धूलि अथवा मेघ) के कारण आकाश को मलिन समझते होंगे। आगे बढ़कर यहाँ तक कहा गया है कि जन्म, मृत्यु और जन्मान्तर के परिवर्तनों को स्वीकार करने पर भी आत्मा में आकाश के समान कोई विकार सम्भव नहीं। यह बात दूसरे ढंग से अनेक परिवर्तनों के आधारभूत निस्संग आकाश के सम्बन्ध में हमारी कवयित्री ने 'रश्मि' में सिद्ध की है :—

(अ) यथा भवति बालानां गगनं मलिनं मलैः।
तथा भवत्यबुद्धानामात्मापि मलिनो मलैः।
मरणे सम्भवे चैव गत्यागमनयोरपि।
स्थितो सर्वशरीरेषु आकाशेनाविलक्षणः। ३। ८, ९। माण्डूक्य

(आ) वक्ष पर जिसके जल उडुगन
बुझा देते असंख्य जीवन,
कनक औ नीलम-यानों पर
दौड़ते जिस पर निशिवासर,
पिघल गिरि से विशाल बादल
न कर सकते जिसको चञ्चल,
तड़ित की ज्वाला घन-गर्जन
जगा पाते न एक कंपन!
उसी नभ सा क्या वह अविकार-
और परिवर्तन का आधार!

इस प्रकार 'नीहार' में जहाँ आत्मा, परमात्मा और प्रकृति पृथक् पृथक् थीं वहाँ 'रश्मि' की रचनाओं में एक ओर आत्मा और परमात्मा और दूसरी ओर प्रकृति और परमात्मा के द्वैत

का निराकरण हुआ। मानों 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' और 'अहं ब्रह्म' का भान हुआ। मानों इस सिद्धान्त की मूक घोषणा हुई कि—

सर्वं ब्रह्मेति जगता सामानाधिकरण्यवत्।
अहं ब्रह्मेति जीवेन् सामानाधिकृतिर्भवेत्॥

'नीरजा' फिर एक अनुभूति प्रधान रचना है। जैसे गिरि के चरणों में बहने वाली किसी स्रोतस्विनी की लहर ऊँची उठकर गिरि पर चढ़ तो जाय पर अपनी गति के लिये शुष्क और कठोर भूमि पाकर फिर तलहटी की सरस भूमि पर उतर आवे इसी प्रकार 'नीहार' की तटिनी से उत्पन्न जो विचार की लहर उठी थी वह 'रश्मि' में ज्ञान के गिरि पर तो चढ़ी पर अपने संचार के लिए उपयुक्त भूमि न पाकर 'नीरजा' में फिर अनुभूति के पथ पर लौट आई। काव्यत्व की रक्षा के लिए यह अच्छा ही हुआ। 'नीरजा' में महादेवी जी की विचारधारा ज्ञान और प्रेम के दो कूलों के बीच, ब्रह्म और जगत के दो करारों के बीच, सूक्ष्म और स्थूल के दो पाटों के बीच बही है। बहाव ज्ञान की अपेक्षा प्रेम की ओर अधिक है। स्वरूप की विस्मृति न होते हुए भी अस्तित्व की पृथकता का भान दृढ़ होगया है और प्रेम का आनन्द लेने के लिए उस पृथकता में आनन्द आने लगा है। आत्म-समर्पण को स्वीकार नहीं किया। दोनों बातें देखिए—

(१) काया छाया में रहस्यमय
प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या !

(२) हारूं तो खोऊं अपनापन
पाऊँ प्रियतम में निर्वासन
जीत बनूँ तेरा ही बन्धन

महादेवी जी ने अनेक स्थलों पर प्रियतम को हृदय में बसा हुआ बतलाया है। उपनिषद् भी अंतःकरण को उस पुरुष का निवास-स्थल निर्देशित करते हैं —

(अ) वह गया बँध लघु हृदय में —नीरजा

(आ) मेरे ही मृदु उर में हँस बस —नीरजा

(इ) प्रिय मुझी में खोगया अब दूत को किस देश भेजूँ।
दीपशिखा

(ई) इहैवान्तः शरीरे सौम्य स पुरुषः। —प्रश्न ६। २

'सांध्यगीत' के गीतों में उपासना का भाव ही प्रबल है। वे साधना के गीत हैं। प्रिया और प्रियतम का भाव उनमें और भी प्रबल हो गया है। इन गीतों में अनुभूति की प्रधानता होते हुए भी चिंतनशीलता छूटी नहीं है। किन्तु वह चिंतनशीलता भी आसक्ति को दृढ़ करने वाली है।

तोड़ देता खीझकर जब तक न प्रिय यह मृदुल दर्पण।
देख ले उसके अधर सस्मित, सजल दृग, अलख आनन॥

यहाँ ऐसा प्रतीत होगा जैसे सूफियों से मिलती हुई यह भावना अद्वैतवादियों से भिन्न जगत को नवीन दृष्टिकोण प्रदान कर रही है। पर ऐसा नहीं है। स्मरण रखना चाहिए कि संसार को मिथ्या समझते हुए भी अद्वैतवादी उससे इस प्रकार का द्वेष नहीं रखते कि यह जगत नष्ट या विलीन होजाय। उनका केवल दृष्टि-कोण बदल जाता है। द्वैत दो प्रकार का होता है—एक ईश्वर-कृत और दूसरा जीवकृत। जगत् ईश्वरकृत द्वैत है। ईश्वर के संकल्प से यह उत्पन्न हुआ है, उसी के संकल्प से नष्ट होगा। इस जगत् को लेकर मन की विविध वासनाएँ जीव कृत द्वैत हैं। यही

पिछला द्वैत बन्धन का मुख्य कारण है। पंचदशीकार ने एक उदाहरण देते हुए कहा है कि यदि किसी का पुत्र परदेश में सुखी हो और कोई वंचक कहदे कि तुम्हारा पुत्र मर गया तो पिता पुत्र के जीवित रहने पर भी विलाप करने लगता है। कारण यह है कि उसका मानस पुत्र नष्ट हो गया, अतः दुःख हुआ। यही मानस-जगत बन्धन का कारण है। अतः मन को सत्पथ पर डालना चाहिए। ईश्वरकृत द्वैत तो साधना का साधक है। उसी के सामने रहने से ज्ञान होता है, क्योंकि प्रलयकाल में जब जगत नहीं रहता तब तो ज्ञान की बात उठती ही नहीं। विवेक द्वारा जगत के केवल मिथ्या स्वरूप को समझना है उसे नष्ट करने की व्यर्थ प्रार्थना नहीं करनी है—

प्रलये तन्निवृत्तौ तु गुरुशास्त्राद्यभावतः।
विरोधिद्वैताभावेपि न शक्यं बोद्धुमद्वयम्॥

प्राणी जड़ और चेतन का संयोग है। उसका स्थूल शरीर मृत्तिका-निर्मित है और आत्मा परमात्मा का प्रतिरूप। उस पर अधिकार पृथ्वी का है अथवा आकाश का यह विवाद का विषय है। इस सम्बन्ध में अन्तिम बात कहनी कठिन है क्योंकि भौतिक-वाद और अध्यात्मवाद की दो विचार धाराएँ सृष्टि के प्रारम्भ से रही हैं और किसी न किसी अनुपात में सदैव रहेंगी। 'नीरजा' में कई रचनाएँ ऐसी है जिनमें से किसी में इस स्थिति का ज्ञान, किसी में शरीर की महत्ता का उद्घोष और किसी में जड़-चेतन के अन्तर का व्याख्यान पाया जाता है। दीपशिखा में पृथ्वी के प्रति महादेवी जी के अंतर में विरक्ति रह नहीं जाती। पहिले तो वे बादल वाले गीत में नभ और रज दोनों ओर के प्रबल आकर्षण का वर्णन करती हैं—

वह जड़ता हीरों से डाली
यह भरती मोती से थाली,
नभ कहता नयनों में बस
रज कहता प्राण समाले !
कजरारे मतवाले,
कहाँ से आए बादल काले ?

'सांध्यगीत' में 'नीर भरी दुख की इस बदली' को इस अन-धिकार पर थोड़ी पीड़ा हुई थी कि 'विस्तृत नभ का कोई कोना उसका न कभी अपना होना।' 'दीपशिखा' में इस असंतोष से मुक्ति मिल गई और अपने अव्यवस्थित आवास का जो सन्देह था वह दूर हो गया। सान्त्वना के दृढ़ स्वर ने कहा—

भीति क्या यदि मिट चली
नभ से ज्वलित पग की निशानी
प्राण में भू के हरी है
पर सजल मेरी कहानी !

आत्मा की गायिका होते हुए भी महादेवी जी जीवन की व्याख्याता हैं। जीवन और मृत्यु के दो कूलों के भीतर व्यथा की सरिता बहाकर उन्होंने सनातन दिव्य गान को गुनगुनाया है। न प्रेमी मुक्ति चाहता है, न भक्त और न रहस्यवादी। ये तीनों अनासक्त रहकर आसक्त रहते हैं। उन्होंने जन्म और मृत्यु की डोरियों पर सधे सुख दुख की बानीर-तीलियों से बुने झूले पर अपने सुकुमार प्राण-शिशु को लोरी देकर झुलाया है। इससे कहीं द्वैत आ जाता है ऐसी आशङ्का भ्रम है—

मैं ऊर्मि विरल,
तू तुङ्ग अचल वह सिंधु अतल,

दार्शनिक आधार

बाँधे दोनों को मैं चल चल,
धो रही द्वैत के सौ कैतव।

इस प्रकार असीम गगन में विहार करने वाली आत्मा को इस विहगी ने हमारी धरित्री की धूलि को महत्ता प्रदान की है। इसकी इस उदार-कोर की तरलता को हम विस्मय ही नहीं स्नेह की दृष्टि से भी देखते हैं—

मेरे ओ विहग से गान!
नभ अपरिमित में भले हो पंथ का साथी सवेरा,
खोज का पर अन्त है यह तृण कणों का लघु बसेरा!
तुम उड़ो ले धूलि का
करुणा-सजल वरदान!

साधना-पथ

कहीं भी पहुँचने के लिए एक मार्ग की आवश्यकता होती है। गीता में जो कहा गया है कि किसी भी रूप में उपासना उसी की उपासना है वह अधिकार भेद को लेकर। कोई कर्म द्वारा उसे प्राप्त करना चाहता है, कोई उपासना (भक्ति) द्वारा और कोई ज्ञान के पथ का पथिक बनकर। जिसकी बुद्धि जितनी विकसित होती है वह अपनी साधना के लिए उतने ही सूक्ष्म पथ को ग्रहण करता है। कर्म से उपासना का पथ श्रेष्ठ है और उपासना से ज्ञान का। भक्ति और ज्ञान के समर्थकों में अपने अपने पक्ष की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए अखाड़ेवालों की सी ललकारें उठती रहती है। एक ओर भ्रमरगीत में निर्गुण के सम्बन्ध में सूरदास जी की गोपियों के चुटीले व्यंग्य और पैने तर्क देखिए दूसरी ओर स्वामी विद्यारण्य जी की इस उक्ति पर ध्यान दीजिए कि पथ तो ज्ञान का ही है पर अन्य मार्गों से उपासना की यदि श्रेष्ठता है तो उसी प्रकार की जैसे भूखे मरने से भीख माँगना अच्छा है।

महादेवी जी ने अपने लिए ज्ञान का सूक्ष्मतम पथ चुना है। कर्म का पथ चुनकर जैसे यज्ञादि क्रियाओं में फँसना पड़ता है, उपासना का पथ ग्रहण कर जैसे मूर्तिपूजा को स्वीकार करना पड़ता है उसी प्रकार ज्ञान मार्ग में आध्यात्मिक पिपासा की

शांति के लिए चिंतन-पद्धति का सहारा लेना पड़ता है। चिंतन के लिए शुद्ध मन और निर्मल बुद्धि की आवश्यकता होती है।

यह बहुत बड़े सन्तोष की बात है कि महादेवी जी के काव्य में सन्तों और सूफियों की भाँति हठयोग की क्रियाओं के रूखे वर्णन नहीं पाए जाते और न उन विचित्र-विचित्र नामवाले लोकों के वर्णन ही पाए जाते हैं जिनके दर्शन कबीर को अपने अंतर में हुए थे। इससे उनकी रचनाएँ शुद्ध काव्य के अन्तर्गत रही हैं। कवयित्री ने जो अपने लिए ज्ञान का पथ चुना है वह शुष्क ज्ञान का पथ नहीं है। जब हम उन्हें ब्रह्म की उपासिका या प्रेमिका कहते हैं तब इन शब्दों में यह कह चुके होते हैं कि उनका मस्तिष्क ज्ञान की ओर झुका रहने पर भी हृदय उपासकों की सी आर्द्रता लिए हुए है।

महादेवी जी ने अपनी साधना का जो आदर्श चुना है वह बहुत ऊँचा और श्रेयस्कर है। वह है हिमगिरि। हिमगिरि की दृढ़ता, राग-हीनता और सबसे अधिक दयार्द्रता अपनी समता नहीं रखती। वह व्यक्तिगत रूप से उदासीन रहकर संसार का कल्याण करता है। न तो प्रभात की स्वर्ण-वर्णी कोमल किरणें उसके चारों ओर बिखरी रहने पर उसके हृदय को आकर्षित कर सकती हैं और न घोर नाद करता भयंकर वज्रपात उसके शीश को झुका सकता है। वह अपनी समाधि में युग-युग से लीन है। पर उसके पत्थर हृदय से धाराएँ फूटकर संसार के ताप का शमन करती और प्यास बुझाती हैं। हिमगिरि की यह दुहरी महानता है। सुख दुःख से इसी प्रकार प्रभावित न होकर अपने आँसुओं से संसार के ताप को सींचने की कामना कवयित्री ने की है। जैसा 'अतीत के चलचित्र' से पता चलता है केवल अपनी

दर्द भरी गीतो रचनाओं से ही वे हमारे सूखे कठोर मन को कोमल और रस-सिक्त नहीं कर रहीं, विश्व-सेवा का सक्रिय पथ भी इन्होंने बहुत पहिले से पकड़ रखा है।

महादेवी जी का मार्ग क्योंकि विवेक का मार्ग है अतः 'प्रतिमा अल्पबुद्धीनाम्' वाली उक्ति का अनुमोदन-सा करते हुए इन्होंने स्थूल पूजा की अनावश्यकता समझी है। यह उनकी बहुत बड़ी उदारता है कि उन्होंने अपनी बात की पुष्टि में खंडनात्मक दुर्वृत्ति की गंध नहीं आने दी। मूर्ति पूजा में जिन बाह्य उपकरणों की आवश्यकता होती है उन्हें अपने शरीर में ही दिखा दिया है। इस मन्दिर में सभी का प्रवेश है, यह सामग्री सभी को सुलभ है, प्रियतम के दर्शन यहाँ सभी को हो सकते हैं, यह उपासना प्रतिक्षण चलती रहती है—

क्या पूजा क्या अर्चन रे !
उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे !
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे !
पदरज को धोने उमड़े आते लोचन में जल-कण रे !
अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी पीड़ा का चन्दन रे !
स्नेह भरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक-मन रे !
मेरे दृग के तारक में नव उत्पल का उन्मीलन रे !
धूप बने उड़ते रहते हैं प्रतिपल मेरे स्पन्दन रे !
प्रिय प्रिय जपते अधर ताल देता पलकों का नर्तन रे !

इस कठिन साधना मार्ग को स्वीकार करने पर बुद्धि जैसे जैसे चिंतन की गहराई में उतरती है वैसे वैसे ही आत्मा के रहस्यों को खोलती जाती है। इस सम्बन्ध में 'रश्मि', 'नीरजा', 'सांध्यगीत' और 'दीपशिखा' की प्रथम रचनाएँ ध्यान से पढ़ने

योग्य हैं। उनमें अपने काव्य ग्रन्थों को प्रारम्भ करने से पहले महादेवी जी ने साधना-पथ की उस दूरी का परिचय दिया है जहाँ वे एक विशेष काल में पहुँच गई हैं। 'रश्मि' की प्रथम रचना को ही लीजिए।

चुभते ही तेरा अरुण बान !
बहते कन कन से फूट फूट,
मधु के निर्झर से सजल गान !
इन कनकरश्मियों में अथाह,
लेता हिलोर तम-सिंधु जाग;
बुद् बुद् से बह चलते अपार,
उसमें विहंगों के मधुर राग;
बनती प्रवाल का मृदुल कूल,
जो क्षितिज-रेख थी कुहरम्लान !
नवकुन्द-कुसुम से मेघ, पुञ्ज,
बन गए इंद्रधनुषी वितान;
दे मृदु कलियों की चटक, ताल,
हिम-बिंदु नचाती तरल प्राण;
धो स्वर्णप्रात में तिमिर गात,
दुहराते अलि निशि-मूक तान !
सौरभ का फैला केश-जाल,
करतीं समीर परियाँ विहार;
गीली केसर-मद झूम-झूम,
पीते तितली के नव कुमार;
मर्मर का मधुसंगीत छेड़—
देते हैं हिल पल्लव अजान !

फैला अपने मृदु स्वप्नपंख
उड़ गई नींदनिशि क्षितिज-पार;
अधखुले दृगों के कंज कोष—
पर छाया विस्मृति का खुमार;

रँग रहा हृदय ले अश्रु हास,
यह चतुर चितेरा सुधि विहान !

वैसे इस रचना में प्रभात का एक चित्र अंकित किया गया है। सामान्य रूप से तो किरणों का. अन्धकार, क्षितिज, बादलों आदि पर प्रभाव दिखाया गया है और नींद के टूटने पर कलियों के चटकने, ओस-बिंदु के नृत्य करने, भौंरों के गूँजने, पल्लवों की मर्मर-ध्वनि फूटने, वायु में गन्ध भरने, कमलों के खुलने आदि की चर्चा है। पर पूरी रचना में एक आध्यात्मिक स्थिति का भी वर्णन है। 'रश्मि' से तात्पर्य ज्ञान की किरण का भी है। प्रकृति-पक्ष को हटाकर देखते हैं तो और ही अर्थ पंक्तियों के शब्द-शब्द से खुल पड़ता है। योगाभ्यास करते-करते योगी लोग जिस स्थिति का अनुभव करते हैं उस स्थिति को महादेवीजी ने चिंतन से प्राप्त किया। हृदय में ज्ञान के बाण के चुभते ही शरीर का रोम-रोम आनन्द का अनुभव करने लगा। आगे ज्ञान के प्रकाश में अज्ञान के समुद्र के घुलने, मीठी वासनाओं के बहने, मलिन हृदय के प्रकाशित होने, सात्विक भावों के उस रँग में रँगने, नवीन भावों पर ज्ञान के शासन होने, अज्ञान की रजनी में सोने वाले मन के उस प्रकाश में स्नान कर ब्रह्म-प्रेम के गीत गुनगुनाने, चेतना के ज्ञान के रस में सराबोर होने और सांसारिक सुख के स्वप्नों के विलीन होने की

गाथा है। इस रचना में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य जो पंक्तियाँ हैं वे हैं—

अधखुले दृगों के कंज कोष पर छाया विस्मृति का खुमार।

कहना पड़ता है कि महादेवीजी ने यहीं क्या, कहीं भी अपनी अनुभूति पर संदेह करने का अवकाश नहीं दिया। पूर्णज्ञान सहसा किसी को नहीं हो जाता। ज्ञान के नयन-कंज खुलते खुलते ही खुलते हैं। अतः अपने पूर्ण स्वरूप की विस्मृति थोड़ी-बहुत बनी रहती है। इस सुधि से कि आत्मा परमात्मा की प्रेयसी है हृदय में हास और रुदन दोनों भर जाते हैं—हास तो अपने परिचय की महत्ता के कारण और आँसू इसलिए कि हाय इतने दिन व्यतीत होने पर भी यह सुधि सार्थक क्यों नहीं हुई!

रँग रहा हृदय ले अश्रु हास,
यह चतुर चितेरा सुधि विहान!

'रश्मि' की रचनाओं के दीर्घ-पथ को पार कर जब हम 'नीरजा' के प्रारम्भ में पहुँचते हैं तब हमें वे इस स्थिति में मिलती हैं कि एक ओर अपने कठोर पथ को अपने आँसुओं से जहाँ उन्होंने निरन्तर कोमल बनाया है वहाँ अपने अनासक्त निर्मल हृदय के सम्बन्ध में भी उन्हें यह घोषणा करने का उचित गर्व प्राप्त है कि—

इसमें न पंक का चिह्न शेष
इसमें न ठहरता सलिल लेश
इसको न जगाती मधुप भीर।

यदि हृदय से कामनाएँ धो दी हैं, यदि संसार का वैभव

इसमें आकर्षण उत्पन्न नहीं कर सकता, यदि यह विश्वासघाती सांसारिक प्रेमियों की बनावटी गुनगुनाहट सुनने को बिलकुल उत्सुक नहीं है तो क्या जड़ होगया है ? नहीं। किसी और के लिए उपयुक्त बनाया जारहा है। 'नीरजा' इसी की परिचायिका है। 'सांध्यगीत' तक पहुँचते पहुँचते उनकी निष्ठा एकदम दृढ़ होगई है—ध्रुव आज बना स्मृति का चल क्षण। वहाँ उनके भावों में कुछ अधिक गम्भीरता आ गई है। यौवनकाल की प्रतीक्षा में पराजित होते रहने पर भी एक प्रकार की अहम्भावना रहती है कि अब नहीं तो किसी न किसी दिन प्रेमपात्र विवश होकर आवेगा। इस प्रकार की अहम्भावना 'नीरजा' के गीतों तक है। 'सांध्यगीत' में यह अभिमान विनय में परिवर्तित होता प्रतीत होता है। प्रथम रचना में ही सांध्यगगन के साथ जीवन की एकता स्थापित करते हुए कहा गया है—

उतरो अब पलकों में पाहुन।

'सांध्यगीत' की रचनाएँ एक मिलनोत्कंठिता नायिका के हृदय से निस्सृत विह्वल गीत-निर्झर है—

पाथेय मुझे सुधि मधुर एक
है विरह-पंथ सूना अपार।
फिर कौन कह रहा है सूना
अब तक मेरा अभिसार नहीं !

यद्यपि मिलन अभी दूर है, पर 'सांध्यगीत' की अन्तिम रचना में निराशा के इस घोर अन्धकार के बीच सान्त्वना की किरण का धुँधला प्रकाश अवश्य विद्यमान है—

तिमिर में वे पद-चिह्न मिले।

इन पद-चिह्नों को पाकर प्रेम के आलोक में महादेवी जी का साहस बहुत बढ़ चला है, जिसकी दृढ़ता का परिचय 'दीपशिखा' के गीतों में बारम्बार मिलता है। आँसुओं के भीतर से, काँटों के ऊपर होकर, चिनगारियों को मुट्ठी में भरकर, पतझर कोसहकर, अन्धकार को जीतकर, अग्निपथ को पार कर, प्रलय से होड़ लगा कर यह साधिका अपने गन्तव्य स्थान की ओर बढ़ी चली जा रही है—अपने चरणों की गति पर जिसे अटल विश्वास है, दया-भिक्षा जैसी वस्तु से जो कोसों दूर भागती है, निरन्तर चलना ही जिसका लक्ष्य है और अपने हृदय की बात को जो अभी पूर्ण रूप से नहीं कह पाई—

पर न मैं अब तक व्यथा का छन्द अन्तिम गा चुकी हूँ।

दुःखवाद

अन्य आक्षेपों की भाँति आलोचकों और सामान्य पाठकों ने महादेवी जी की रचनाओं पर सबसे बड़ा आक्षेप यह किया कि वे पीड़ा के ही गीत गाती रहती हैं। उनकी पीड़ा-भावना के आधार पर ही किसी किसी पुस्तक में 'दुखिया कवियों की टोली' का व्यंग्यभरा नामकरण संस्कार हुआ। यह पीड़ा, जिसके कारण उनके कवि-जीवन को उपहास-भरी दृष्टि से देखा गया महादेवी जी को इतनी प्रिय क्यों हुई ?

प्रेम का जीवन वेदना का जीवन है। इस सम्बन्ध में लौकिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन में स्थूल दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। सामान्य जीवन में जिस प्रकार एक प्रेमी और एक प्रेम-पात्र होता है, उसी प्रकार उठे हुए जीवन में एक 'मीरा' और एक 'गिरधर नागर', 'एक कबीर' और एक 'साहिब', एक 'महादेवी' और एक 'चिर सुन्दर' होता है। लौकिक प्रेम व्यापार में प्रेमी और प्रेमिका आध्यात्मिक प्रेम-व्यापार से कम पीड़ा का अनुभव करते होंगे यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। ब्रजभाषा के एक कवि ने 'जाके लगै सोई जाने व्यथा' का अनुभव-जन्य अकाट्य तर्क उपस्थित कर 'पर पीर में कोउ उपहास करै ना' की विनय की है। वैसे तो लौकिक जीवन में ही पीड़ा अभिशाप बनकर आती है, पर रहस्यवादी का एक और दुर्भाग्य है। उसका

प्रियतम निराकार और अलक्ष्य है। पीड़ा के पथ को पार करने पर भी महादेवी उर्मिला की भाँति लक्ष्मण से मिल नहीं सकतीं; गोपा की भाँति गौतम के दर्शन कर नहीं सकतीं, लैला की भाँति अपना अस्तित्व खोए बिना मजनूँ में घुल-मिल नहीं सकतीं। लौकिक प्रेम में विरह काल की एक सीमा है। हो सकता है कि यह सीमा जीवन-व्यापिनी हो। पर इससे आगे यह नहीं बढ़ती। अपने पिछले जन्म का किसी को स्मरण नहीं रहता। रहस्यवादी पर दुहरी चोट पड़ती है। एक तो वह अपने प्रियतम की धुँधली-सी झलक देख पाता है और दूसरे वह जन्म-जन्मांतर की प्रेम-वेदना का अनुभव करता है। अतः उसकी पीड़ा का पारावार नहीं। सच तो यह है कि वह अपनी समस्त पीड़ा और व्याकुलता को व्यक्त नहीं कर सकता। महादेवी जी ने फिर भी बहुत संयम से काम लिया है। विरह का इतना लम्बा-चौड़ा वर्णन करने पर भी इतने संयम से काम लेने वाला हिन्दी में एक भी सम-सामयिक कवि नहीं है—

मेरी आहें सोती हैं
इन ओठों की ओटों में।

पीड़ा की उत्पत्ति का कारण है प्रिय का दर्शन। प्रथम दर्शन का 'यामा' में कवयित्री ने तीन-चार स्थलों पर संकेतमात्र किया है। परन्तु इन चार-पाँच गीतों में भी इस दर्शन-संकेत तक पहुँचने से पहिले चार मुख्य बातें पाई जाती हैं। पहिली बात है प्रकृति के रम्य दृश्य और उनमें प्रेम-व्यापार के दर्शन जैसे कलिका से वसन्त और रजनी से सुधाकर की छेड़-छाड़; दूसरी बात है प्रकृति की वस्तुओं में व्याप्त एक विषाद का वातावरण जिसमें प्रेमलीला को सफलता नहीं मिलती जैसे लहरों का चंद्रमा

को छूने के लिए मचलकर उठना और तट से टकराकर लौट आना; तीसरी बात है महादेवी के हृदय का प्रकृति दर्शन से मुग्ध होना और चौथी बात है उनका अपने हृदय में एक प्रकार के अभाव का अनुभव करना। इन चारों पर यदि विचार करें तो प्रेमोद्भव के लिए एक मनोवैज्ञानिक क्रम की उपलब्धि होती है। कवि भी एक संसारी जीव है अतः प्रारम्भ में प्रकृति की छवि से उसका आकृष्ट होना अत्यन्त स्वाभाविक है। प्रकृति के जीवन पर दृष्टि डालने से जो प्रेमलीला के दृश्य सामने आए हैं वे कवि के हृदय की सोती प्रेम-भावना को जगाने के लिए उद्दीपन का काम करते हैं, और उनका लक्ष्य ठीक बैठते ही महादेवी अपने अन्तर में एक प्रकार के अभाव का अनुभव करने लगती हैं। ठीक ऐसे समय जब उनका हृदय किसी का स्वागत करने के लिए उत्सुक हो उठा और उपयुक्त बन चुका तब कोई धुँधली-सी झलक दिखाकर और चुपचाप मानस को जकड़ कर चला जाता है—चला जाता है चिरकाल के लिए अवहेलना करके! इस असफलता का संकेत भी प्रकृति ने रहिस से ही कर दिया था।

पीड़ा को ग्रहण करने का परिणाम यह हुआ कि सुख का जीवन नष्ट होगया। लौकिक-सुख स्वप्न हो गया। लौकिक सुख की हानि जैसे सबको अखरती है वैसे ही थोड़ी बहुत महादेवीजी को भी अखरी है। जिस मानस में उल्लास और न जाने किन किन आशाओं का वास था उसमें रुदन समा गया, जिस प्याली में मस्ती की मदिरा भरी थी उसे पीड़ा से भर दिया गया। इस पीड़ा की गहराई को मापने का कोई मानदण्ड नहीं है। महादेवी जी को जब कोई बात कहनी होती है तब वे प्रकृति की ओर अपनी दृष्टि उठाती हैं। पर क्या शीर्ण पुष्प, आहें भरता पवन,

विषाद-बदला संध्या, रोते मेघ उनके हृदय की पीड़ा के परिमाण को व्यक्त कर सकेंगे? कल्पना कीजिए उस नव-वधू की जिसकी लाज के बोल भी नहीं खुले थे कि उसका निष्ठुर पति उसे सदैव को त्याग कर चला गया—

इन ललचाई पलकों पर
पहरा था जब व्रीड़ा का,
साम्राज्य मुझे दे डाला
उस चितवन ने पीड़ा का।

उस सोने के सपने को
देखे कितने युग बीते,
आँखों के कोष हुए हैं
मोती बरसा कर रीते।

अतः पीड़ा आरोपित नहीं है, आई है। और वह अपनाई इसलिए गई है कि 'प्रिय' की दी हुई है। इसीलिए वह मधुर भी हुई—'मधुर मुझको होगए सब मधुर प्रिय की भावना ले।' पर तर्क-शील बुद्धि को सन्तोष हो तब न? अतः उनके गीतों में कहीं-कहीं पीड़ा भी भाव-मिश्रित चिंतन का एक विषय है।

इसके लिए महादेवी जी ने पीड़ा का सुख-पक्ष भी स्पष्ट किया है और उसकी महत्ता भी दृढ़ स्वर से घोषित की है। प्रेम की पीड़ा अन्य अभावों के दुःख से इस बात में विलक्षण है कि वह जलाकर भी शीतलता प्रदान करती है। पीड़ा को उन्होंने मधुमय, मधुर, मधु-मदिरा की धार तथा चन्दन-सी कहा है। ये विशेषण भावावेश में नहीं निकले। पीड़ा की आनन्द-विधायिनी शक्ति को प्रत्यक्ष करने के लिए उन्होंने यह तर्क उपस्थित किया है कि ब्रह्म को छूने का अर्थ है मिट जाना। मोक्ष

अस्तित्व की हानि है। प्रेम का आनन्द उसी समय तक उठाया जा सकता है जब तक अस्तित्व है। अतः प्रेम की पीड़ा से भरा अस्तित्व ही सदा बना रहे इसी में आनन्द है। एक गीत में 'अमरों के लोक को उन्होंने इसीलिए ठुकरा दिया है कि उसमें 'वेदना' नहीं है। वेदना की महत्ता तीन कारणों से है। वेदना अन्तःकरण को शुद्ध करती है; वह हमें प्रिय के अधिक निकट खींचती है और स्वयं उस प्रियतम की शोभा इसी में है कि उसके लिए कोई वेदना का अनुभव करने वाला हो। सोना तप कर ही उज्ज्वल होता है। हृदय भी प्रेम में जितना तपता है उतना निखरता है। जल जैसे सुमन की रज को धो देता है उसी प्रकार आँसू भी मन-सुमन के वासनात्मक मैल को धो डालते हैं, यह कौन नहीं जानता? दुःख की मूल सांसारिक ममता का विनाश होकर अलौकिक प्रेम की आभा अंतर में फूटती है जिसकी पुकार इस विश्वनियंता के हृदय को भी विह्वल कर डालती है। प्राणी का सबसे बड़ा पुरुषार्थ आत्मा-परमात्मा का मिलन ही तो है। महादेवी जी इतने से ही संतुष्ट नहीं होतीं। मनीषियों का कहना है 'यदि वह न होता तो कुछ न होता।' महादेवी प्रेम के अभिमान से भर कर कहती हैं, "तुम्हें गर्व किस बात का है? यदि मैं तुम्हें प्रेम न करती तो तुम्हें कोई जानता तक नहीं।" इससे पता चला कि जो प्रेम करता है वह भी मानो एक बहुत बड़ा अहसान करता है—

> चिंता क्या है हे निर्मम
> बुझ जाये दीपक मेरा;
> हो जायेगा तेरा ही
> पीड़ा का राज्य अँधेरा

महादेवी जी की पीड़ा-भावना पर एक आक्षेप किया जा सकता है। कितना ही बड़ा साधक हो उसकी अन्तिम अभिलाषा होती है साध्य से एकाकार होने की। उस दशा में पीड़ा शांत हो जानी चाहिये। साधन कितना ही मूल्यवान हो साध्य का स्थान नहीं ले सकता। यदि सभी प्रेमियों की भाँति महादेवी इस निर्णय पर पहुँची हैं कि प्रियतम तक पहुँचने का मार्ग पीड़ा के भीतर से गया है—पथ में बिखरा शूल, बुला जाते क्यों दूर अकेले—तो कोई अस्वाभाविक बात नहीं। पर पथ पार कर लेने पर भी काँटों को कलेजे से चिपटाए रखने की, पीड़ा के पल्ले को न छोड़ने की हठ कैसी है? प्रत्येक आलोचक पूछता है ऐसी बात वे कैसे कहती हैं?

> पर शेष नहीं होगी यह,
> मेरे प्राणों की क्रीड़ा।
> तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा,
> तुम में ढूँढ़ूँगी पीड़ा।

ये पंक्तियाँ उनकी सबसे प्रथम कृति 'नीहार' की हैं। उस समय हृदय का घाव हरा था। ऐसी अवस्था में प्रत्येक चोट खाए प्रेमी को ऐसा लगा करता है मानो उसके दुःख का कभी अन्त नहीं होगा, ऐसा लगा करता है मानो जो पीड़ा आज उसे मिली है वह सृष्टि के प्रारम्भ से न किसी को मिली और न भविष्य में किसी को मिलेगी। यदि उसका वश चले तो अपनी इस पीड़ा की गाथा को वह समुद्र की एक एक लहर पर, मरुस्थल के एक एक रजकण पर, पृथ्वी के एक एक तृण पर, गगन के एक एक उडुगन पर अङ्कित कर आवे। यही पीड़ा प्रिय की स्मृति को तीव्रता प्रदान करती हुई उससे मिलाती भी है, अतः

दूसरी बात कृतज्ञता के उग्र आवेश का परिचय देती है जिसमें कबीर ने कहा था—"गुरु गोविन्द दोनों खड़े का के लागूँ पाय, 'बलिहारी गुरु आपने' गोविन्द दिये मिलाय।" कृतज्ञता की अति की ऐसी भावना कभी-कभी उठती है। अन्तिम पीड़ा शब्द का अर्थ है 'पीड़ामय हृदय।' जिसके लिए इतनी पीड़ा सही है उस निष्ठुर के हृदय में भी कभी दर्द उठता है या नहीं यह जानने की कामना भी अत्यन्त स्वाभाविक है। जिस पीड़ा ने महादेवी जी को उस निठुर से मिलाया है, उसकी प्राप्ति पर वे अपने साथ उपकार करने वाला को भूल जायँ इतनी अकृतज्ञ महादेवी जी नहीं हैं। पर लक्ष्य 'तुम' ही है, पीड़ा नहीं।

उस समय से अब तक यद्यपि उनकी अवसाद-भावना की छाया पर आह्लाद की किरण-रेखाएँ पड़ती रही हैं, पर जो मानसिक स्थिति इन पंक्तियों में व्यक्त हुई है उसमें बहुत कम कमी आई है। महादेवी जी ने मुक्ति की कामना कभी प्रकट नहीं की। वे चिर-साधिका बनी रहना पसन्द करती हैं। 'चिर बटोही मैं', 'भाती उम की मुक्ति नहीं', 'प्यास ही जीवन', 'चिनगारी का पी मधुरस' आदि खण्ड-पंक्तियों से यह बात स्पष्ट है। उनका हृदय कुछ इस प्रकार का बना हुआ है कि उसमें मिलन की तीव्र आकांक्षा तो है, पर निकट पहुँचकर जिसे प्यार करता है उसे छूने से डरता है—

(क) रंगमय है देव दूरी
छू तुम्हें रह जायगी
यह चिन्मय क्रीड़ा अधूरी
दूर रहकर खेलना पर मन न मेरा मानता है।

(ख) विरह का युग मिलन का पल,

मधुर जैसे दो पलक चल,
एकता इनकी तिमिर, दूरी खिलाती रूप शतदल।

नीचे की पंक्तियाँ देखिये—

तुम मानस में बस जाओ
छिप दुख की अवगुंठन से
मैं तुम्हें ढूँढ़ने के मिस
परिचित होलूँ कण-कण से

'रश्मि' की यह रचना पूरी पढ़ने योग्य है। इसमें कामनाओं की तृप्ति से असन्तोष और अतृप्ति से प्रेम प्रकट किया गया है। तृप्ति का अर्थ है रुकना, अतृप्ति का अर्थ है गति; तृप्ति का अर्थ है निद्रा, अतृप्ति का अर्थ है जागरण; तृप्ति का अर्थ है मृत्यु, अतृप्ति का अर्थ है जीवन। 'सुख की चिर पूर्ति यही है उस मधु से फिर जावे मन।' अतृप्ति की यह प्रेमिका इसी से पीड़ा की ओर मुड़ी है। ऊपर की पंक्ति में ज्ञानी लोग जैसे ब्रह्म का निवास अन्तर में बतलाते हैं वैसे ही कवयित्री ने उनका अपने अन्तर में आह्वान किया है। केवल एक अंतर कर दिया है। ज्ञानी लोग मन पर जहाँ माया का आवरण मानते हैं वहाँ शुद्ध चेतन पर दुःख का आवरण माना गया है। माया 'परिणामी' है नित्य नहीं। अतः माया के आवरण को भेदती हुई साधक की दृष्टि मायापति तक पहुँचती है और इस बीच 'वह यह नहीं है' 'यह भी नहीं है' जानती हुई माया के मिथ्या स्वरूप से परिचय प्राप्त कर लेती है। माया फिर नहीं सताती। इसी प्रकार प्रियतम की झलक पाने से पहिले इस दुःखमय संसार के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान भी महादेवी जी को आप से आप हो जायगा यदि उनका 'सुन्दर' दुःख के आवरण

के पीछे छिप गया तो। इससे लाभ यह होगा कि इस दुःखमय जगत की ममता फिर न सता पायेगी। जग की ममता के दुःख को आध्यात्मिक पीड़ा से एकदम भिन्न समझना चाहिए, क्योंकि जहाँ मिलन-स्थल आता है वहाँ वे एकदम चौकन्नी होकर कठोर हो जाती हैं—

(अ) तुम 'अमर प्रतीक्षा' हो मैं
पग विरह-पथिक का धीमा।
आते जाते मिट जाऊँ
पाऊँ न पन्थ की सीमा।

(आ) वह सुनहला हास तेरा
अंक भर घनसार-सा
उड़ जायगा अस्तित्व मेरा।

ऐसी हठीली साधिका का पीड़ा से सहज छुटकारा नहीं हो सकता। एक ओर पीड़ा की साधना स्वीकार करने पर और दूसरी ओर साधना के आनन्द में ही मग्न रहने पर उनकी पंक्तियों में पीड़ा साधना होते हुए भी साध्य-सी बन बैठी है।

(अ) खोज ही चिर प्राप्ति का वर,
साधना ही सिद्धि सुन्दर।

(आ) अलि विरह के पंथ में मैं तो न इति अथ मानी री!

(इ) मैं चिर पथिक वेदना का लिए न्यास।

परन्तु ऐसे जितने भी भाव उनके काव्यों में बिखरे पड़े हैं वे केवल साधना काल की दृढ़ मानसिक स्थिति को व्यक्त करने के लिए ही हैं। अपनी साधना में वे निश्चल हैं, इनका केवल इतना ही तात्पर्य है। पर साधना सिद्धि के लिए ही स्वीकार की जाती है यह सिद्ध करना अब कठिन नहीं होगा। दीपक का काम

है जलना। परन्तु उसके जलने की एक अवधि है। कैसी ही अंध-तम-पूरित निशा हो, झंझा कितना ही प्रबल हो उठे, पर उसे जलकर अंधकार को उस समय तक झेलना ही पड़ेगा जब तक वह अपनी लौ को प्रभात के प्रकाश-चरणों में प्रणत होकर लीन करने का अवसर न पावे। 'दीपशिखा' के गीतों में साधना के प्रारम्भ से लेकर सिद्धि की प्राप्ति तक की स्थितियाँ आप स्पष्टता से देख सकते हैं।

(१) दीप मेरे जल अकम्पित
घुल अचंचल !

(२) यह मंदिर का दीप इसे नीरव जलने दो।
जब तक लौटे दिन की हलचल,
तब तक यह जागेगा प्रतिपल,
दूत साँझ का इसे प्रभाती तक चलने दो।

(३) खोल कर जो दीप के दृग
कह गया 'तम में बढ़ा पग'
देख श्रमधूमिल उसे करते निशा की साँस जगमग !
क्या न आ कहता वही
'सो याम अंतिम ढल चुका है।'

(४) पुजारी दीप कहीं सोता है !
विद्रुम के रथ पर आता दिन
जब मोती की रेणु उड़ाता,
उसकी स्मिति का आदि, अंत इसके पथ का होता है !

(५) दीप सी मैं !
आ रही अविराम मिट मिट,

स्वजन और समीप सी मैं !

(६) शेषयामा यामिनी मेरा निकट निर्वाण !

(७) सजल है कितना सवेरा !

कल्पना निज देखकर साकार होते,
और उसमें प्राण का संचार होते,
सो गया रख तूलिका दीपक चितेरा !

इस प्रकार जिस वेदना को सँभालना उन्हें एक दिन कठिन हो गया था, जिसके अतिरिक्त एक दिन उन्हें और कुछ दिखाई ही नहीं देता था, जिसे छोड़कर जीवित रहना वे कठिन समझती थीं, उसी वेदना को विदा करने की वेला अब आ पहुँची है। पीड़ा को विदा करते समय उन्हें बड़ी पीड़ा होगी, यह हम जानते है, पर विदा तो उसे करना ही होगा—हँसकर अथवा रो-कर, क्योंकि अब निशा समाप्त हो गई है और—

तूलिका रख सो गया दीपक-चितेरा !

माधुर्य भाव

काव्य में प्रिया-प्रियतम के सम्बन्ध को माधुर्य भाव कहते हैं। भगवान को साधकों ने अनेक रूपों में देखा है। कहीं पिता के, कहीं माता के, कहीं स्वामी के, कहीं सखा के, कहीं प्रियतमा के और कहीं प्रियतम के सम्बन्ध से भक्तों ने उन्हें पुकारा है। इन सम्बन्धों में किसी के साथ श्रेष्ठ, किसी के श्रेष्ठतर और किसी के श्रेष्ठतम हम नहीं जोड़ सकते। भगवान भाव के भूखे हैं, वे उसकी संज्ञा की ओर ध्यान नहीं देते। फिर भी यह कहने की इच्छा होती है कि उन्हें प्रियतम कहने में आत्मा को जो अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है वह और कुछ कहने में नहीं। अन्य सम्बोधनों में कुछ न कुछ मर्यादा का ध्यान रखना पड़ता है। वहाँ आत्मा पूर्णरूप से अपने को उड़ेल नहीं पाती।

प्रेम में गोपियों के प्रेम को आदर्श माना गया है। यह बात जब भागवत् के एक कथा-वाचक से मैंने पहिले-पहल सुनी तो समझ में न आई। मैं प्रायः सोचा करता था कि पति-पत्नी के प्रेम में जो माधुर्य और निश्चितता है उससे प्रेमी प्रेमिका के प्रेम में कहाँ श्रेष्ठता है? एक दिन मथुरा के एक छोटे से घर में बैठा हुआ था। एक रिकर्ड बजा। भाषा साधारण थी। गायकों के स्वर में विशेष लोच न था, पर उसे बार-बार सुनने पर भी तृप्ति न हुई। कृष्ण की पटरानियाँ इस बात पर बहुत असंतुष्ट थीं कि उनके हर प्रकार की असाधारण सेवा करने पर

श्री कृष्ण बार-बार राधा का नाम लेने लगते हैं। एक बार नारद आए तो उनसे भी यही शिकायत हुई। ठीक उसी समय ऐसा हुआ कि कृष्ण के उदर में भयंकर शूल उठा जिसका शमन किसी उपचार से न हो सका। रानियों के प्राण ओठों पर आगए। कृष्ण बोले—"नारद, कोई स्त्री यदि अपने पैर का अँगूठा धोकर मुझे पिला दे तो पीड़ा का शमन संभवतः हो जाय।" नारद ने रुक्मिणी सत्यभामा आदि की ओर देखा। सभी बोलीं, "नारद बड़े असमंजस की बात है। कोई अन्य उपाय करो। यह अधर्म हमसे न होगा। तुम हमें नरक का भागी बनाना चाहते हो।" कृष्ण कराहते हुए कहने लगे, "नारद, मेरा मुँह तो बात करने का नहीं है, पर प्राण कंठ में आ रहे हैं। एक बार राधा के पास तो और हो आओ। शायद ......।" नारद ब्रज में आकर राधा से मिले और घबराकर सारा सन्देश कहा। राधा ने अँगूठे का जल देते हुए कहा, "नारद ? उस छलिया के सम्बन्ध में बहुत सी बातें कहने की साध बहुत दिन से थी, पर तुम शीघ्रता करो, कुसमय है। कहना राधा, कृष्ण के लिए एक नरक तो क्या करोड़ों नरकों की भयंकर यातनाओं से नहीं घबराती और प्रेम के लिए वह अधर्म भी कर सकती है।" उस सांध्यकाल में अहीर की उस बालिका के सामने मर्यादा की गरिमा कुछ फीकी और हल्की लगी। प्रेम में आत्मा को राधा ही बनने की क्या आवश्यकता है यह उस समय समझ में आया। महादेवी जी ने अत्यन्त विह्वलता की अवस्था में एक स्थान पर कहा भी है—

आकुलता ही आज
होगई तन्मय राधा

महादेवी जी माधुर्य भाव की उपासिका हैं। उन्होंने बड़ा

को प्रियतम के रूप में देखा है। सच पूछा जाय तो यह सम्बन्ध उनके सम्बन्ध में इसलिए और भी स्वाभाविक लगता है कि उनका मन भी नारी का मन है। पुरुष को भी नारी का मन मिल सकता है जैसे 'वीणा' और 'पल्लव' के पन्त को। पर नारी का सा मन मिलना और नारी का ही मन होना दो बातें हैं। पंत जी ने उस आवरण को आज उतार कर फेंक दिया। आत्मा में लिंग-भेद न होते हुए भी उसके निवास-स्थान शरीर का कुछ ऐसा प्रभाव है कि काव्य में पुरुष का स्त्री बनना कुछ वैसा ही विचित्र लगता है जैसे थियेटर में लड़कों का स्त्री-पात्र होना। पंतजी ने 'पल्लव' में मौन-निमंत्रण कविता की पंक्ति 'शून्य शय्या में श्रमित अधार छुहाती जब मैं आकुल प्राण' के स्थान पर 'पल्लविनी' में 'छुहाता जब मैं आकुल प्राण' कर दिया। इसी प्रकार 'नहीं कह सकती' के स्थान पर 'नहीं कह सकता' बोलने लगे। अपने पौरुष का ज्ञान उन्हें देर से हुआ, पर हुआ। पहिले कबीर आदि से जैसे हमें मीरा का अपने उपास्य को प्रियतम कहना प्रिय लगता है उसी प्रकार आधुनिक कवियों के प्रियतमा बनने से कवयित्री महादेवी का प्रियतमा बनना हमें अधिक संगत प्रतीत होता है।

अपने प्रेमपात्र के लिए महादेवी जी का सामान्य और प्रिय सम्बोधन तो 'प्रिय' ही है, पर और भी बहुत से नामों से वे उन्हें पुकारती हैं। कभी वे उनके रूप का ध्यान कर 'सुन्दर' अथवा 'चिर सुन्दर' कहती हैं, कभी उनके खिंचाव और उलझन में डालने का ध्यान कर उन्हें 'निठुर' 'निर्मम' 'निर्मोही' बतलाती हैं। हृदय में आह्वान करते समय 'अतिथि' या 'पाहुन' कहती हैं। 'करुणामय' अथवा 'करुणेश' शब्द का दो भावों में प्रयोग करती हैं: कहीं करुणा दिखाने के समय शब्द का वाच्यार्थ लेकर और कहीं

करुणाहीनता को प्रत्यक्ष करने के लिये व्यंग्य से इस शब्द का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार अत्यधिक आदरसूचक 'देव' शब्द का जहाँ उन्होंने प्रयोग किया है वहाँ उन्हें तटस्थ देख 'अभिमानी' भी कहा है। 'वे', 'तुम' और 'तू' सर्वनामों का प्रयोग भी भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से उनके लिए हुआ है। जब दूसरों को उनका परिचय देना होता है तो 'वे' कहती हैं और जब उनसे बातचीत करने के ढंग से बोलती हैं तो 'तुम' कहती हैं। यह बिल्कुल घरेलू ढङ्ग है। जब किसी बाहर के आदमी को परिचय देना होता है तो हमारी प्रियाएं कहती हैं, 'वे कहीं बाहर गए हैं।' जब अकेले में बातचीत करती हैं तो पूछती हैं, "तुम अब तक कहाँ रहे जी?" 'तू', 'तेरा' शब्दों का प्रयोग भी उनकी रचनाओं में है। ये 'तू' और 'तेरा' प्रत्येक स्थान पर तिरस्कारवाचक नहीं हैं। तेरा या तेरी से सम्बन्धित वस्तु जहाँ तिरस्कार का विषय है वहाँ इस शब्द का प्रयोग इस अर्थ में है जैसे—'ऐसा तेरा लोक, वेदना नहीं, नहीं जिसमें अवसाद' या 'क्या अमरों का लोक मिलेगा तेरी करुणा का उपहार?' कहीं कहीं महाकरुणामय, महासुषमामय, महामहिमामय जानकर 'तू' या 'तेरे' कह दिया है, वहाँ किसी प्रकार के प्रेम-सम्बन्ध की विज्ञप्ति नहीं है, केवल उनकी शक्ति और वैभव की स्वीकृति है। पर कहीं-कहीं एक ही रचना में 'तुम' कहने के उपरान्त प्रेमाधिक्य के कारण—ऐसी दशा में जब सज्ञा-ज्ञान कम रहता है—'तेरा' और 'तेरो' शब्द अनायास निकल गये हैं जैसे—

तुम मुझ में प्रिय फिर परिचय किया !
तेरा अधर विचुम्बित प्याला,
तेरी ही स्मितिमिश्रित हाला,

तेरी ही मानस मधुशाला,
फिर पूछूँ क्यों मेरे साकी
देते हो मधुमय विषमय क्या !

इस प्रेम व्यापार में सापत्न्य-ईर्ष्या-जनित कलह को स्थान नहीं है। कृष्ण का स्थूल शरीर नहीं है जिस पर अधिकार जमाने के लिए आपस में झगड़ा हो। किसके घर रहे, किससे हँसे बोले, किसकी मनुहारें कीं और किसके कलेजे में आग लगाई ऐसी बुरी बातों का यहाँ प्रसङ्ग ही नहीं उठता। यहाँ प्रेमपात्र का ऐसा स्वरूप है जिसकी सभी प्रेमिकाएँ आपस में सपत्नियाँ नहीं कहलातीं, जहाँ अगणित प्रेमिकाएँ होने पर भी प्रेम के बटवारे के लिए तू-तू मैं-मैं नहीं होती। इससे प्रेम-व्यापार की विविधता नूतनता, जटिलता और रंगीनी तो मिट गई, पर साथ ही प्रेम-पात्र का इधर-उधर खिंचा फिरना, अपने दोषों, कुटिलताओं और अपराधों पर शङ्कित होना भी लुप्त हो गया। वैसे हमें तो गंभीर प्रेम-व्यापार से गोपियों की सी कुछ छेड़-छाड़ की प्रेमलीला अधिक आकर्षक लगती है। महादेवी जी के प्रेम में कोई विकट बाधा न होने से किसी विकट उत्साह के, जो प्रेम का प्राण है, दर्शन नहीं होते। सारा उत्साह केवल इसी बात में समाहित हो गया है कि उनका मिलन-पथ असीम है। उनकी कोई प्रतिद्वन्द्विनी न होने से उनकी रचनाओं में विनोद का भी एक प्रकार से एकदम अभाव है। विना विनोद के प्रेम बहुत फीका लगता है। 'नीहार' में एक बार प्रेमपात्र को प्रकृति से छेड़छाड़ करते देखा था और उस 'छलना' पर थोड़ी चौंकी भी थीं, पर आगे चलकर प्रकृति को उन्होंने बगल में ले लिया। अपनी ओर से भी वे किसी प्रकार का हास-परिहास नहीं करतीं। कोई मीठी चुटकी नहीं लेतीं। इतनी

गम्भीर-हृदया वे क्यों हैं ? क्या इस गम्भीरता को वे कुछ कम नहीं कर सकतीं ?

यह प्रेम एक-पक्षीय अधिक है। इधर से जिस प्रेम और जिस पीड़ा का प्रदर्शन हुआ है उस ओर से नहीं। उधर कोई तीव्र हलचल, तीखी व्याकुलता और गहरी उत्कंठा का अभाव है। एक रो रहा है, एक सो रहा है। कहना ही पड़ा—

तुम्हारी बीन ही में बज रहे हैं बेसुरे सब तार।
मेरी साँस में आरोह,
उर अवरोह का संचार,
प्राणों में रही घिर घूमती चिर मूर्च्छना सुकुमार !
चितवन ज्वलित दीपक गान,
दृग में सजल मेघ-मलार,
अभिनव मधुर उज्ज्वल स्वप्न शतशत राग के शृङ्गार !
सम हर निमिष, प्रतिपग ताल,
जीवन अमर स्वर विस्तार,
मिटती लहरियों ने रच दिए कितने अमिट संसार !
तुम अपनी मिला लो बीन,
भर लो उँगलियों में प्यार,
घुल कर करुण लय में तरल विद्युत की बहे झंकार।

इस प्रेम-लीला के कई सोपान हैं जिन्हें हम दर्शन, विभूति और सौंदर्य-वर्णन, विरह तथा मिलन कह सकते हैं। दर्शन से मुग्धता और कसक का वर्णन 'नीहार' के प्रारम्भ में ही मिलता है। इसके पश्चात् के पल दीर्घ विरह के पल हैं पर बीच बीच में प्रकृति में उनकी झाँकी मिलती है और ऐसा आभास भी मिलता रहता है कि कोई स्पष्ट न पुकार कर बुलाता रहता, विशेष आकार

में न आकर आँखों में चकाचौंध भरता रहता और पकड़ में न आकर भी गुदगुदाता रहता है। विरह में आन्तरिक पीड़ा और उस पीड़ा के बाह्य लक्षणों के बहुत मार्मिक और स्पष्ट वर्णन 'यामा' में मिलते हैं। सुधिमात्र से शरीर की गति कुछ से कुछ हो जाती है। कंपन, रोमांच और अश्रु सात्विकों ने बहुत कुछ छिपाने पर भी सारा भेद खोल दिया—

(अ) पुलक पुलक उर, सिहर सिहर तन
आज नयन आते क्यों भर भर !—नीरजा

(आ) मंजरित नवल मृदु देह डाल,
खिल खिल उठता नव पुलकजाल,
मधुकन सा छलका नयन नीर।
घुल घुल जाता यह हिम दुराव,
गा गा उठते चिर मूक भाव,
अलि सिहर सिहर उठता शरीर।-रश्मि

सौंदर्य का शृंगार से बहुत गहरा संबंध है। यह ठीक है कि दिखाना वस्त्रों का नहीं होता। प्रेम करने वाला कपड़ों को महत्ता नहीं देता और वस्त्राभूषण से असुन्दर को सुन्दर नहीं बनाया जा सकता। पर शृङ्गार से सुन्दर सुन्दरतर हो जाता है और प्रेमी भी इस दशा में अधिक आकर्षण का अनुभव करता है। रावण की मृत्यु के उपरांत सीताजी 'कृस तनु सीस जटा इक बेनी' की दशा में ही जा सकती थीं पर उन्हें भी 'बहु प्रकार भूषण पहिराये' गए। साकेत में लक्ष्मण के लौटने पर उर्मिला के ना-ना करते रहने पर भी सखी ने उसे सुसज्जित कर ही दिया है। मिलन की तत्परता में शृङ्गार न करना अमंगल का ही सूचक नहीं है, दरिद्रता और उत्साह-हीनता, असभ्यता और फूहड़पन

का भी परिचायक है। प्रकृति को तो देखो समागम की उत्कंठा में उसने अपने आपको और अपने घर को कैसा सुसज्जित किया है? स्थान लिपा-पुता, दीपक जले हुए, संगीत का आयोजन और स्वयं भीतर बाहर से प्रसन्न पर कैसी शर्मीली बन गई है!

हिम-स्नात कलियों पर जलाए
जुगनुओं ने दीप-से;
ले मधु-पराग समीर ने
वन-पथ दिए हैं लीप से;
गाती कमल के कक्ष में
मधु गीत मतवाली अलिन!

महादेवी का मन भी आज कुछ और प्रकार का हो उठा है, पर शृङ्गार के लिए वे जिन वस्तुओं को चुनती हैं उनकी आप कल्पना भी नहीं कर सकते। माधुर्य-भाव की उपासिका में इतना संयम?

शृङ्गार कर ले री सजनि—

तू स्वप्न-सुमनों से सजा तन
विरह का उपहार ले;
अगणित युगों की प्यास का
अब नयन अंजन सार ले!
अलि! मिलन-गीत बने मनोरम
नूपुरों की मदिर ध्वनि!

जहाँ शृङ्गार लौकिक वस्त्राभूषणों से सम्बन्ध रखता है वहाँ भी पूरी सात्विकता एव विलक्षण सुरुचि का महादेवी जी ने परिचय दिया है। जगत-तपोवन में पली इस आध्यात्मिक

शकुंतला के शरीर को सुसज्जित करने वाली आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति प्रकृति के उपादानों से होती है—

जाने किस जीवन की सुधि ले
लहराती आती मधु-बयार।
रञ्जित कर दे यह शिथिल चरण ले नव अशोक का अरुणराग।
मेरे मण्डन को आज मधुर ला रजनीगन्धा का पराग।
यूथी की मीलित कलियों से
अलि दे मेरी कबरी सँवार।

पाटल के सुरभित रङ्गों से रङ्ग दे हिम-सा उज्ज्वल दुकूल।
गुथ दे रशना में अलि-गुञ्जन से पूरित झरते बकुल फूल।
रजनी से अंजन माँग सजनि
दे मेरे अलसित नयन सार।

रूढ़ि का पालन करने के लिए वैसे पत्र-लेखन की चर्चा भी महादेवी जी के गीतों में एकाध स्थल पर है। प्रणय-पथ में एक दूसरे से दूर होने पर भी हम जो पत्रों के द्वारा एक दूसरे के पास रहते हैं उसमें एक विचित्र ही प्रकार का कसक भरा माधुर्य रहता है। निरन्तर निकट रहने पर भी जो बातें हमारे प्राणों की गुहा में ही विलीन रहती हैं, अधरों तक नहीं आ पाती, वे पत्रों में सहज स्वीकारोक्तियाँ बन कर उभर पड़ती हैं। तब हम कितने पुलकित होते हैं, कितने विकल! परन्तु रहस्यवाद के क्षेत्र में पत्रों का वह मूल्य नहीं रह जाता जो सामान्य प्रेम-मार्ग की निधि है। कारण यह है कि वहाँ प्रियतम की कल्पना बहुत कुछ अपने अंतर में होती है। अतः दूरी की सार्थकता के छिनते ही पत्रों की सारी सम्मोहन-शक्ति क्षीण हो जाती है। कबीर और मीरा की भाँति

महादेवी जी को भी इसी से संतोष का वही पुराना स्वर दुहराना पड़ा है —

अलि कहाँ संदेश भेजूँ
मैं किसे संदेश भेजूँ !

नयन पथ से स्वप्न में मिल,
प्यास में घुल, साध में खिल,

प्रिय मुझी में खोगया अब दूत को किस देश भेजूँ !

इसी भाव का यह लोक-प्रचलित दोहा देखिये —

पीतम पाती तब लिखूँ, जब कोई होय विदेस ।
तन में, मन में, नैन में, उनको कहाँ संदेस ।

फिर भी यह निश्चित है कि अपने हृदय में उनके रहने की बात प्रेमी आवेश में ही कहता है। वियोग काल में हमारी समस्त बिखरी भावनाएँ एकत्र होकर ऐसी केन्द्रित हो जाती हैं, स्मृति इतनी अधिक तीव्र हो जाती है कि प्रेमास्पद छायारूप में हमारे चारों ओर निरंतर घूमता और अंतर में बराबर घुमड़ता प्रतीत होता है। अतः वह दूर कहाँ? पर इस मानसिक सामीप्य को प्राप्ति की संज्ञा तो नहीं दी जा सकती। प्राप्ति की ज्योत्स्ना की झलक तो वियोग के अग्नि-पथ को पार करने पर ही मिलती है। इसी से वियोग की शतशत ज्वालमालाओं में भी विरही एक मधुर आशा को लेकर जीवित रहता है। महादेवी जैसी गम्भीर-शीला प्रणयिनी भी लाख बार उन्हें अपने अंतर में अनुभव करते रहने पर इस विकल प्रश्न और विह्वल आकांक्षा को पूछने-प्रकट करने से नहीं बच सकीं—

माधुर्य भाव

अब कहो सन्देश है क्या ?
और ज्वाल विशेष है क्या ?
अग्नि-पथ के पार चंदन चाँदनी का देश है क्या ?
एक इंगित के लिए
शतवार प्राण मचल चुका है।

प्रणयानुभूति

जैसे अतल सागर के हृदय से उठने वाली लहरों, सीमाहीन अवकाश के अन्तर से बहने वाली हिलोरों, सूर्य के नयन-कोर से बरसने वाली किरणों और सुधानिधि के आनन से झरनेवाली रजत-रेखाओं की कोई सीमा नहीं, उसी प्रकार मन के केन्द्र-बिंदु से उगने वाली भावनाओं की कोई मिति भी। विश्लेषण, अनुमान और अनुभव से इतना सिद्ध है कि इन चेतना-रश्मियों की उद्गम-वृत्ति किसी न किसी रूप में आनन्दमयी है। यह 'आनन्द' प्राणी के मानस में स्नेह-रस बनकर संख्यातीत लहर-बुदबुद-आवर्तों में परिवर्तित हो जाता है। मानव का मन ही नहीं, बाह्य-सृष्टि भी यही बात दुहराती है। कहीं उषा मुस्कराती, शतदल खिलते और मधुप मकरंद पान करते हैं; कहीं खग कूजते, पंख आकाश-पथ मापते और फिर दिनान्त में चारा लेकर नीड़ों की ओर लौट आते हैं; कहीं संध्या घिरती, ज्योत्स्ना फूटती और कुमुदिनी खिल पड़ती है; कहीं मेघ घिरते, गर्जन होता और मयूर नृत्य करते हैं; कहीं गिरिवर पिघलते, नदियाँ उमड़तीं और समुद्र का हृदय भरता है; कहीं नयन मिलते, आकर्षण बढ़ता और प्रतीक्षा होती है; कहीं दीनता बरसती, बरौनियाँ भीगतीं और सेवा-पथ स्वीकार करना पड़ता है; कहीं स्वतंत्रता छिनती, देशानुराग जन्म लेता और प्राणों की आहुतियाँ दी जाती हैं। द्वेष, क्रोध यहाँ तक कि

हत्या तक के जो बहुत से उदाहरण सुनाई पड़ते हैं उनके मूल में भी प्राय: प्रेम रहता है।

प्रेम जीवन की सबसे व्यापक वृत्ति है। प्रकृति और प्राणी-मात्र से ऊँचा उठकर यही प्रेम जब इनके स्रष्टा की ओर मुड़ जाता है तब वही लौकिक से अलौकिक होकर एक अनिर्वचनीय आनंद की अनुभूति जगाता है। महादेवी जी की प्रणयानुभूति अलौकिक है—अर्थात् प्रेम का वह मधुर संबंध जो प्रेमी और प्रेमिका के मध्य चलता है, उनकी आत्मा ने केवल उस परम पुरुष से स्थापित किया है। इसके अतिरिक्त मन की वह ममता जो माता के हृदय की विभूति है, वह अनुराग जो बहिन के अन्तर में भाई के प्रति लहराता है, वह करुणा जो किसी भी दीन पर अनायास अपने अंचल की शीतल छाया डालती है, वह मुग्धता जो प्राकृतिक दृश्यों में लीनता का कारण बनती है अन्यत्र प्रदर्शित हुई है। कविताओं में तो वे एक प्रणयिनी के रूप में ही दिखाई देती हैं; पर वे मा के रूप में, बहिन के रूप में, स्वामिनी और प्रकृति-प्रेमिका के रूप में भी अन्यतम हैं—यह उनके संस्मरणों के संकलनों अर्थात् 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' से जाना जा सकता है। 'चलचित्रों' की चर्चा हम पहिले कर चुके हैं। अब 'स्मृति की रेखाओं' की आत्मा में झाँकिये :—

१—भक्तिन और मेरे बीच में सेवक-स्वामी का सम्बन्ध है यह कहना कठिन है, क्योंकि ऐसा कोई स्वामी नहीं हो सकता जो इच्छा होने पर भी सेवक को अपनी सेवा से हटा न सके और ऐसा कोई सेवक भी नहीं सुना गया जो स्वामी से चले जाने का आदेश पाकर अवज्ञा से हँस दे।

२—एक युग से अधिक समय की अवधि में मेरे पास एक

ही परिचारक, एक ही ग्वाला, एक ही धोबी और एक ही ताँगेवाला रहा है। परिवर्तन का कारण मृत्यु के अतिरिक्त और कुछ हो सकता है इसे न वे जानते हैं न मैं।

३—तब से मुन्नू की माई 'हम तौ आज नैहरे जाब' कहकर प्रायः यहाँ चली आती है। मेरा घर इसका एकमात्र नैहर है यह सोचकर मन व्यथित होने लगता है।

४—मन में सोचा अच्छा भाई मिला है। बचपन में मुझे लोग चीनी कहकर चिढ़ाया करते थे। सन्देह होने लगा उस चिढ़ाने में कोई तत्त्व भी रहा होगा। मेरे पास रुपया रहना ही कठिन है, अधिक रुपये की चर्चा ही क्या ? पर कुछ अपने पास खोज ढूँढ़कर और कुछ दूसरों से उधार लेकर मैंने चीनी के जाने का प्रबन्ध किया। वह जन्म का दुखियारा, मातृ-पितृहीन और बहिन से बिछुड़ा हुआ चीनी भाई अपने समस्त स्नेह के एकमात्र आधार चीन में पहुँचने का आत्म-तोष पा गया है, इसका कोई प्रमाण नहीं—पर मेरा मन यही कहता है।

५—गर्मियों में जहाँ तहाँ फेंकी हुई आम की गुठली जब वर्षा में जम उगती है तब उसके पास मुझसे अधिक सतर्क माली दूसरा नहीं रहता। घर के किसी कोने में चिड़िया जब घोंसला बना लेती है तब उसे मुझसे अधिक सजग प्रहरी दूसरा नहीं मिल सकता। जिसका दूध लग जाने से आँख फूट जाती है वह थूहर भी मेरे सयत्न लगाए आम के पार्श्व में गर्व से सिर उठाए खड़ा रहता है। धँसकर न निकलने वाले काँटों से जड़ा हुआ भटकटैया सुनहरे रेशम के लच्छों में ढके और उजले कोमल मोतियों से जड़े मक्का के भुट्टे के निकट साधिकार आसन जमा लेता है।

इस प्रकार एक ओर आध्यात्मिक अन्वेषण और अलौकिक प्रणय-लीनता में अपनी सत्ता को अभी तक साभिमान बनाये रखने पर भी महादेवी जी ने दूसरी ओर प्रकृति की तुच्छ से तुच्छ वस्तु और समाज में 'छोटे' की संज्ञा पाने वाले अनादृत व्यक्तियों के सुख दुःख में अहर्निश जीवंत भाग लेकर अपने को भुला दिया है। वे केवल उन व्यक्तियों में से नहीं हैं जो कल्पना से भारतीय हाहाकार को चित्रित कर क्रान्ति या प्रगति के अग्रदूत कहलाते हैं, वरन् उन सच्ची आत्माओं में से हैं जो शीत-घाम-वर्षा में अपने पैरों से घूमकर झोपड़ियों और परित्यक्त पथों पर अपनी आँखों से देखकर अनिवार्य होने पर भी अपने स्वास्थ्य की चिंता न करते हुए, अपने ही हाथों से वास्तविक दीनों और व्यथितों की सेवा करती फिरती हैं। एक दार्शनिक की आत्मा में करुणा की ऐसी सजलता भरकर विधि ने जिस अपूर्व भारतीय महिला की सृष्टि की है उसके समान केवल वही प्रतीत होती हैं। इतना जानते हुए भी जो उन्हें हृदय से पलायनवादिनी कहते हैं वे कितने प्रगल्भ हैं। पलायन के संस्कार उनमें हैं ही नहीं। पर यदि कोई यह सोचता हो कि काव्य-सृष्टि भी कवि को उसी विषय पर करनी होगी जिसे वह या उसका दल चुनकर दे तब उससे बड़ा अज्ञ और कोई नहीं है।

गीतों का कथा-भाग

महादेवी जी के गीतों के मूल में एक क्षीण-सी कथा-धारा बहती है। ये कविताएँ उन मुक्तकों से भिन्न कोटि की हैं जिनमें एक छन्द या रचना का दूसरे छन्द या रचना से कोई सम्बन्ध नहीं होता जैसे विहारी के दोहे या उर्दू की ग़ज़लें। जहाँ रुचि

अथवा स्थिति से शासित होने पर कवि कभी प्रेम, कभी प्रकृति, कभी समाज-सुधार और कभी देश-भक्ति पर लिखता है, वहाँ उसकी कोई भी रचना निरपेक्ष होती है। आधुनिक हिन्दी कवियों के बहुत से गीत-संकलन इसी कोटि के हैं। पर 'प्रसाद' की 'आँसू' पुस्तिका एक भिन्न ही प्रकार की वस्तु है। उसके छन्दों के तरल-मोती एक विशिष्ट प्रेमिका की निष्ठुरता का अभिषेक करते हैं। महादेवी जी का प्रत्येक गीत वैसे अपने में पूर्ण है, पर वह एक विस्तृत भाव-माला का पुष्प है, अतः उसे सापेक्ष-दृष्टि से देखना ही अधिक संगत होगा। उनकी रचनाओं को समझने के लिए कम से कम दो बातों का ध्यान रखना चाहिए। पहिली बात तो यह कि उनके गीत उज्ज्वल प्रेम के गीत हैं, अतः उनका उच्चारण करने के पूर्व 'फ्रॉयड' को हृदय से निकाल देना चाहिए। दूसरी बात यह है कि ये गीत एक दूसरे से संबंधित हैं। 'नीहार' में आकर्षण और पीड़ा की अनुभूति, 'रश्मि' में दार्शनिक सिद्धान्तों, 'नीरजा' में विरह-व्यथा, 'सांध्य-गीत' में आत्म-तोष और 'दीप-शिखा' में साधना की गति का प्रतिपादन है। अतः जैसा अभी कहा है किसी भी गीत को बीच से उखाड़ कर पढ़ने की अपेक्षा उनके सभी गीतों को एक बार पढ़कर उनकी कल्पना-भूमि और प्रणय-धारा को एक बार हृदयंगम कर लेना चाहिए। अच्छा होता वे अपने गीतों के शीर्षक दे देतीं। इससे उनके पाठकों को सुविधा हो जाती। पर किसी भी कारण से यह कार्य यदि उन्हें रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ तब उनके दार्शनिक विश्वास और अनुभूति संबंधी कुछ बातों को स्मरण रखना चाहिए।

काल-सीमा-हीन अवकाश में कोई अनादि अनन्त सो रहा

(निष्क्रिय) था। एकाकीपन के भार से अकुलाकर उसने अपनी कल्पना से रंगीन (सत्, रज, तम-मिश्रित) स्वप्नों (जगत की विभिन्न वस्तुओं) की सृष्टि की जिनका उद्भव, विकास और लय समुद्र में लहरों के समान उसी में होता रहता है। लहरें समुद्र होते हुए भी जैसे एक विशेष आकार में बँधने से अपने को समुद्र से भिन्न और वियुक्त समझें और किसी की आकुल खोज में सिहरती रहें, इसी प्रकार व्यापक चेतना जब 'नाम' 'रूप' में बँध गई तब अपने को स-सीम समझने लगी और असीम के अन्वेषण के लिए विह्वल हो उठी।

'मैं वही हूँ' यह ज्ञान होने पर भी मैं उसमें घुलूँ न, थोड़ी दूर बनी रहूँ, यह अभीष्ट हुआ, क्योंकि मोक्ष, निर्वाण या लीन होने पर अपना अस्तित्व ही मिट जायगा और तब वेदना की मधुरता की उस अनुभूति का जो केवल एकाकार न होने की स्थिति में ही संभव है, भान कैसे होगा ? इसी से युग युग की वियुक्त आत्मा की व्यथा को व्यक्त करने की आकुलता और उसकी अभिव्यक्ति की अनिर्वचनीय मधुरता के बीच ही महादेवी का मन अभी तक भ्रमण करता रहा है। इतनी सी कहानी कल्पनाओं के शत-शत रंगीन रूप धारण कर 'यामा' और 'दीप शिखा' में दुहराई गई है।

संयम

प्रेम पर लेखनी चलाने वाले प्रायः सभी कवियों में कहीं न कहीं असंयम आ गया है। इस सम्बन्ध में संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी, बँगला, उर्दू, हिन्दी सभी भाषाओं की एक सी दशा है। उदाहरण देकर उत्तेजना उत्पन्न करना मुझे अभीष्ट नहीं, नहीं तो प्रत्येक भाषा के श्रेष्ठतम कवियों में यह दुर्बलता दिखाई जा

सकती है। मनुष्य अन्त में मनुष्य ही है, यही कहकर सन्तोष करना पड़ता है। हिन्दी में महात्मा तुलसीदास ही एक ऐसे कवि निकले जो प्रेम-प्रसङ्गों का निर्वाह संयम के साथ कर गए। प्रत्येक मनोविकार अपने मूल रूप में अत्यन्त आवेशपूर्ण होता है, यह सत्य है; पर ऐसी नग्नता और आवेश की महत्ता मनोवैज्ञानिक के लिए हो तो हो, कवि के लिए नहीं है। कवि को अपनी बात संयम के साथ कहनी चाहिए। क्रोध में मनुष्य जिस समय जिह्वा पर से अपना शासन उठा लेता है, उस समय वह अपने को कितना ही बड़ा वाग्वीर समझता हो, पर सुनने वाले उसे अशिष्ट और असभ्य ही कहते हैं। यही क्रोध जब संयम के साथ व्यक्त होता है, तब उपयुक्त ही नहीं अधिक शोभन भी प्रतीत होता है। यही दशा प्रत्येक मनोविकार की है। हिन्दी के आधुनिक कवियों ने यद्यपि रीतिकाल की शृङ्गार-प्रियता और अश्लीलता की प्रतिक्रिया में अपनी रचनाओं की सृष्टि की थी, पर इनमें भी मैथिलीशरण गुप्त जैसे एकाध कवि को छोड़ वासना की अभिव्यक्ति की कमी नहीं रही। इधर जब से प्रगतिवाद ने जोर पकड़ा है तब से यथार्थवाद के नाम पर पूरी नग्नता और अश्लीलता कविता में प्रवेश कर गई है। ऐसी परिस्थितियों में जीवित रहकर और केवल प्रेम पर निरंतर लिखने पर भी महादेवी जी ने अपने अन्तर की जिस सात्विकता या संयम-वृत्ति का परिचय दिया है वह उनके व्यक्तित्व की महत्ता की परिचायक ही नहीं, काव्य-गरिमा की आधार-स्तम्भ भी है।

एक आक्षेप

पंडित रामचन्द्र शुक्ल उनके शिष्यों अनुयायियों और प्रशंसकों; प्रगतिवाद के कवियों, समीक्षकों और समर्थकों तथा और भी

ई साहित्य-प्रेमियों ने अपना यह मत प्रकट किया है कि महादेवी जी अनुभति के आधार पर नहीं, अनुमान के आधार पर लिखती हैं। आध्यात्मिक-चेतना के पक्ष में तर्क के लिए संस्कृत के दार्शनिक ग्रंथ और प्रमाण के लिए प्राग्ऐतिहासिक काल से लेकर अब तक ऋषियों और साधु-संतों की जीवनियाँ खुली पड़ी हैं। पर समाजवादी ऐसी बातों पर ध्यान देने ही क्यों लगे? वहाँ तो 'शास्त्र' के नाम पर एक मात्र 'अर्थशास्त्र' या फिर 'कामशास्त्र' है। मुझे पूर्ण आशङ्का है कि पश्चिम की अविकल धारणाओं के आधार पर यदि समाजवाद ने इस देश में अपने पैर जमाए और उसमें भारतीय परिस्थितिओं के अनुकूल परिवर्तन न हुए तो आगे के कुछ वर्ष घोर नास्तिकवाद के वर्ष हैं। ऐसी दशा में अध्यात्मवाद की रचनाओं के विपरीत प्रचार आवश्यक हो उठा है। कवि छोटे-मोटे आक्षेपों के प्रति उदासीन ही देखे गए हैं। पर कोई बात जब सीमा का अतिक्रमण कर जाती है तब कवि भी कुछ कहने को विवश हो जाता है। उर्दू के प्रसिद्ध कवि 'ग़ालिब' की ग़ज़लों पर जब यह आक्षेप किया गया कि वे अर्थहीन हैं तब उसने विरक्ति के शब्दों में लिखा था:—

न सताइश की तमन्ना न सिले की परवाह,
गर नहीं हैं मेरे अशआर में मानी न सही।'

इसी प्रकार महादेवी के काव्य पर जो आक्षेप किए गए हैं उनका उत्तर उन्होंने अपने ढङ्ग से काव्य-ग्रंथों की भूमिकाओं में देने का प्रयत्न किया है। पर अनुभूति की अयथार्थता वाले सन्देह का समाधान उन्होंने काव्य के माध्यम से ही किया है। पहिले तो लोगों की धारणा पर उन्हें आश्चर्य होता है:—

जाने क्यों कहता है कोई,
मैं तम की उलझन में खोई !

मैं कण कण में ढाल रही अलि आँसू के मिस प्यार किसी का !
मैं पलकों में पाल रही हूँ यह सपना सुकुमार किसी का !
—दीपशिखा

पर जब इस बात को सुनते-सुनते कान पक उठते हैं तब प्रति-प्रश्न-पद्धति पर उत्तर देती हुईं प्रश्न करने वालों से अत्यंत सहज-भाव से अपने अनुभवों का कोई अन्य समाधान चाहती हैं :—

जो न प्रिय पहचान पाती !
दौड़ती क्यों प्रति शिरा में प्यास विद्युत सी तरल बन !
क्यों अचेतन रोम पाते चिर व्यथामय सजग जीवन !
किस लिए हर साँस तम में
सजल दीपक-राग गाती !
चाँदनी के बादलों से स्वप्न फिर फिर घेरते क्यों !
मदिर सौरभ से सने क्षण दिवस-रात बिखरते क्यों !
सजग स्मित क्यों चितवनों के
सुप्त प्रहरी को जगाती !
कल्प-युग-व्यापी विरह को एक सिहरन में सँभाले,
शून्यता भर तरल मोती से मधुर सुधि-दीप वाले,
क्यों किसी के आगमन के
शकुन स्पन्दन में मनाती ?
मेघ-पथ में चिन्ह विद्युत् के गए जो छोड़ प्रिय-पद,
जो न उनकी चाप का मैं जानती संदेश उन्मद,

प्रणयानुभूति

किसलिए पावस नयन में
प्राण में चातक बसाती ?

—दीपशिखा

और इस आत्म-विश्वास, संकल्प की दृढ़ता एवं अटूट धैर्य को तो देखिए! संसार में कितने साहित्यिक हैं जो अहं को ऐसा स्पृहणीय बना कर इतनी सुंदर अभिव्यक्ति दे सकते हैं!

पंथ होने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला!
अन्य होंगे चरण हारे,
और हैं जो लौटते, दे शूल को संकल्प सारे;
दुखव्रती निर्माण-उन्मद,
यह अमरता नापते पद,
बाँध देंगे अंक — संसृति
से तिमिर में स्वर्ण - वेला!

दूसरी होगी कहानी,
शून्य में जिसके मिटे स्वर, धूलि में खोई निशानी;
आज जिस पर प्रलय विस्मित,
मैं लगाती चल रही नित,
मोतियों की हाट औ'
चिनगारियों का एक मेला!

हास का मधुदूत भेजो,
रोष की भ्रू-भंगिमा पतझार को चाहे सहेजो!
ले मिलेगा उर अचंचल,
वेदना - जल, स्वप्न-शतदल,

जान लो वह मिलन-एकाकी
विरह में है दुकेला !
पंथ होने दो······

मनोदशाएँ

प्रेम का विषय जितना रोचक है, उतना विवादास्पद, उतना ही विषम। प्रेम की दशा में स्त्रियाँ कैसा अनुभव करती हैं, यह सदा से मनुष्य की उत्सुकता का प्रधान विषय रहा है। नारी जो अनादि काल से मनुष्य के लिए पहेली बनी हुई है, उसके मूल में प्रमुख बात यह है कि वह पुरुष की अपेक्षा अधिक भावमयी होते हुए भी कहती कम है। फिर जिस प्रकार वह अनुभव करती है उसी प्रकार व्यक्त भी नहीं करती। कभी कभी तो बिल्कुल उल्टी बात कहती और विपरीत आचरण करती है। मनुष्य जो बाहरी व्यवहार को प्रमुखता देता है और जल्दी ही सब कुछ जानना चाहता है उसके सम्बन्ध में भ्रान्त धारणाएँ बना लेता है। स्त्रियों के हृदय की हलचल का जो अधूरा ज्ञान हमें अभी तक प्राप्त है उसका दूसरा कारण यह है कि उस हृदय का विश्लेषक अभी तक अधिकतर पुरुष-हृदय रहा है। नारी हृदय के प्रेम का विश्लेषण ठीक से नारी-हृदय ही कर सकता है। साहित्य के क्षेत्र में स्त्री-लेखिकाओं की संख्या अभी तक बहुत ही न्यून रही है, इसी से यह काम अपूर्ण ही पड़ा है। परिणाम यह होता है कि स्त्रियों के सम्बन्ध में हृदय के बहुत से विश्लेषण निजी धारणाओं के विकृत परिणाम-मात्र होते हैं। प्रमाण यह है कि इधर कवि ने अपना सारा जीवन दैवी-प्रेम की अनुभूति में व्यतीत कर दिया और उधर फ्रॉयड का अनुयायी अपने ही अनुमान लगाए चला जा रहा है !

प्रणयानुभूति

प्रेम, क्योंकि अनुभूति-साध्य विषय है, अतः उसमें कौन कितना गहरा उतर गया है यह काव्य में उसकी अपनी अंतर्दशाओं और शरीर पर उनकी प्रतिक्रियाओं के चित्रण से जाना जा सकता है। आधुनिक हिन्दी कविता में व्यक्तिगत सुख-दुःख से सम्बन्धित मनोविकारों के विश्लेषण और वर्णन की ओर बहुत ध्यान दिया गया है। इस दिशा में श्री जयशङ्कर प्रसाद को अत्यधिक सफलता मिली। मनोविकारों को मूर्त रूप देने और उनके सूक्ष्म से सूक्ष्म सूत्रों तथा गहरे से गहरे पटलों को देखने-दिखाने में उन्हें विशेष आनन्द आता था। महादेवी मनोभावों में डूबने के साथ ही साथ उनके कायिक प्रतिवर्तनों की सजीव मूर्तियाँ भी अत्यन्त कौशल से प्रस्तुत करती हैं।

किशोरावस्था और यौवन के संगम के कुछ ऐसे विलक्षण पल होते हैं जो प्रत्येक बालिका के शरीर और मन में नवीन परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। उन परिवर्तनों और अनुभूतियों का अर्थ उस समय वह मुग्धा स्वयं नहीं समझ पाती। हिन्दी में रीति-काल के कवियों ने इस दशा के बड़े मादक वर्णन किये हैं। प्राचीन भावज्ञों में विद्यापति ने इस अवस्था का चित्र खींचते खींचते रस का सागर ही लहरा दिया है। भावुक पुरुष ही प्रणय की इस भूमि के दर्शन रस-लोलुपता की दृष्टि से करते कराते हैं या स्त्रियाँ भी ऐसा अनुभव करती हैं, यह मैं कभी-कभी सोचा करता था। आशा नहीं करता था कि महादेवी जी भी किसी लजीली मुग्धा का चित्र खींचेंगी। सहसा एक दिन इस रचना पर दृष्टि पड़ी।

> सजनि तेरे दृग बाल!
> चकित से विस्मित से दृग बाल—

प्रणयानुभूति

आज खोये से आते लौट,
कहाँ अपनी चंचलता हार !
झुकी जातीं पलकें सुकुमार,
कौनसे नव रहस्य के भार !

सरल तेरा मृदु हास !
अकारण वह शैशव का हास—

बन गया कब कैसे चुपचाप,
लाज भीनी सी मृदु मुस्कान
तड़ित् सी जो अधरों की ओट,
झाँक हो जाती अन्तर्धान !

सजनि वे पद सुकुमार !
तरंगों से द्रुतपद सुकुमार—

सीखते क्यों चचल गति भूल,
भरे मेघों की धीमी चाल !
तृषित कन-कन को क्यों अलि चूम,
अरुण आभा सी देते ढाल !

मुकुर से तेरे प्राण !
विश्व की निधि से तेरे प्राण—

छिपाये से फिरते क्यों आज,
किसी मधुमय पीड़ा का न्यास !
सजल चितवन में क्यों है हास,
अधर में क्यों सस्मित निश्वास !

—रश्मि

प्रेम का पहिला लक्षण है अंदर में एक प्रकार की कोमलता का जग पड़ना। जहाँ आदर्षण ने जन्म लिया नहीं कि व्यक्ति मधुरता मिश्रित किसी शीतल विह्वलता का अत्यन्त तीव्र अनुभव करने लगता है। उस समय एक से एक कोमल, एक से एक मधुर, एक से एक काव्यमयी भावनाएँ न जाने अन्तःसंज्ञा के किस स्तर के उद्गम से उमड़कर ओठों तक आती हैं जिनमें से कुछ व्यक्त हो जातीं और कुछ मूक रहकर प्रेमास्पद की इंगित को निहारती रहती हैं। उस समय इच्छा होती है कि हमारे पास जो कुछ है वह अपने नेही के चरणों पर न्योछावर कर दें किसी प्रकार हम केवल उसकी एक स्निग्ध चितवन और मधुर मुस्कान के अधिकारी होसकें। उसे प्रसन्न देखने की इच्छा और भी अनेक रूप धारण करती है। इनमें से एक है अपने शरीर को उपयुक्त वेश-भूषासे संयुक्त करना। शृंगार, जो मन के उत्साह और आह्लाद का सूचक है, अपने ही को नहीं दूसरे को भी प्रसन्न करने के लिये किया जाता है। यह सरस उदाहरण एक बार फिर उद्धृत करना पड़ रहा है :—

(१) लौकिक शृङ्गार :—

रंजित कर दे यह शिथिल चरण ले नव अशोक का अरुण राग,
मेरे मंडन को आज मधुर ला रजनीगंधा का पराग,
यूथी की मीलित कलियो से
अलि दे मेरी कवरी सँवार !
लहराती आती मधु-बयार !

— सांध्यगीत

(२) आध्यात्मिक शृङ्गार :—

शशि के दर्पण में देख देख,

मैंने सुलझाये तिमिर केश,
गूँथे चुन तारक-पारिजात,
अवगुंठन कर किरणें अशेष;
क्यों आज रिझा पाया उसको
मेरा अभिनव शृंगार नहीं !

—सांध्यगीत

महादेवी जी के काव्य में दुःखपक्ष की प्रधानता है। उसका अधिकांश विरह-वेदना समन्वित है। इसी से उसमें आँसुओं के उल्लेख की प्रचुरता है। इच्छा होती है मैं महादेवी को आँसुओं की देवी-महादेवी-कहूँ। उनके काव्य में प्रवाहित पीड़ा-धारा में आंतरिक वृत्ति के देर तक निमग्न होते ही एक प्रकार की मनो-व्यथा का अनुभव पाठक को होने लगता है। इन पंक्तियों को फिर देखिए :—

पुलक पुलक उर, सिहर सिहर तन,
आज नयन आते क्यों भर भर !
सकुच सलज खिलती शेफाली,
अलस मौलश्री डाली डाली,
बुनते नव प्रवाल कुंजों में
रजत श्याम तारों से जाली,
शिथिल मधु पवन गिन गिन मधुकण,
हरसिंगार झरते हैं झर झर !
आज नयन आते क्यों भर भर !

—नीरजा

ज्योत्स्ना-धौत वासंती निशा है। मलय-पवन बह रहा है।

नायिका उद्यान में है। पुष्पों को भीनी गंध, समीर का रोमांच-कारी स्पर्श और उजली चाँदनी का रम्य दर्शन उसके प्राण, तन और नयन में मादकता भरकर संज्ञाहीनता का आह्वान कर रहे हैं। ऊपरी दृष्टि से देखने पर ये पंक्तियाँ मधुऋतु की रजनी का सामान्य वर्णन सा प्रतीत होती हैं। पर कवयित्री एक-एक साँस में न जाने कितनी बातें सोच रही है? शेफाली उसकी ही आँखों के सामने सकुचा रही है, लजा रही है, खिल रही है। उसे तो ऐसा अवसर कभी नहीं मिला कि किसी की समीपता प्राप्त करके वह भी एक पल को सकुचा पाती, लजा लेती, खिल उठती। सारा यौवन प्रतीक्षा में ही ढल गया, मन के सारे अरमान आँसू बन कर ही बिखर गए, समस्त जीवन केवल सूनेपन में ही परि-वर्तित हो गया। डाली डाली पर मौलश्री आज अलसा कर शयन कर रही है। मधु-पवन का उसे मादक परस मिला है। इतने पर भी वह न अलसायेगी? पर उसके जीवन में विद्युत्-स्पर्श तो बहुत दूर, दर्शन भी दुर्लभ हो उठा है। कभी होगा भी अथवा नहीं, इसका ही अब क्या भरोसा है! कुंजों के नीचे झरते हर-सिंगार की शय्या पर तम और चाँदनी आलिंगन-पाश में बद्ध पड़े हैं। और यह मधु-पवन! इसे देखो, इस लोभी ने इतने मधु का संचय किया है कि उसके भार से इससे चला भी नहीं जाता। पर कितना अज्ञान, कितना निष्ठुर है अपना प्रेमी जो हृदय के मानस को सूखने देख रहा है और आता नहीं। अंतर भर उठता है, शरीर सिहर उठता है और आँसू की बूँदें बरौनियों में उलझ कर रह जाती हैं। पर इससे लाभ? सब व्यर्थ है! सब विषाद-पूर्ण! सब सारहीन! विरह सत्य है! प्रतीक्षा सत्य है!! व्यथा सत्य है!!!

चिंतन और साधना की दृष्टि से महादेवी जी को एकान्त; घोर निस्तब्धता और तम अत्यंत प्रिय हैं। तन्मयता के लिए इन तीनों की स्थिति अनिवार्य है। यद्यपि प्रत्येक आलोचक ने उनपर यह आक्षेप किया है कि उनका काव्य कल्पना-प्रसूत है, पर उनकी कुछ रचनाओं को ध्यान से पढ़ने पर यह आरोप मुझे सारहीन प्रतीत होता है। मेरी यह धारणा है कि वे चुपचाप किसी प्रकार की साधना में लीन हैं। साधना के प्रकट होने पर उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है और सच्चा साधक यह चाहता भी नहीं कि वह उसका प्रदर्शन करे। अतः इस सम्बन्ध में उनसे कुछ जानना कठिन ही है। उनकी 'स्मृति की रेखाएँ' से प्रकट होता है कि उनको सबसे अधिक निकट से जानने का सौभाग्य 'भक्तिन' उपाधि-धारिणी उनकी किसी सेविका को प्राप्त है। पर उसकी जैसी विद्या-बुद्धि है वह भी उस संस्मरण से प्रकट है ही। संस्मरणों से यह भी प्रत्यक्ष है कि रात के पल वे केवल सोने में नष्ट नहीं करतीं। कभी कभी तो जगते जगते प्रभात हो जाता है। 'स्मृति की रेखाएँ' में एक स्थान पर उन्होंने शीतलपाटी पर आसीन 'योग-दर्शन' के अध्ययन की चर्चा की है। 'दीपशिखा' के पाँचवें, तेईसवें, उन्तीसवें, बयालीसवें और पचासवें गीत किसी प्रकार भी काल्पनिक नहीं हो सकते। उनके परिणाम क्रियात्मक ही हैं, नहीं तो अर्थ की संगति बैठ ही नहीं सकती। इन्हीं सब बातों के आधार पर मेरा अनुमान है कि वे अपने एकान्त क्षणों में कभी-कभी उस लीनता को प्राप्त होती हैं जो जीव का परम लक्ष्य और सिद्धि है।

इच्छा :

इस असीम तम में मिलकर
मुझको पल भर सो जाने दो। —नीहार

कारण :

करुणामय को भाता है
तम के परदे में आना। —नीहार

क्रिया :

मैं आज चुपा आई 'चातक',
मैं आज सुला आई 'कोकिल',
कंटकित 'मौलश्री', 'हरसिंगार'
रोके हैं अपने श्वास शिथिल ! —सांध्यगीत

फल :

मेरे नीरव मानस में
वे धीरे धीरे आये ! —नीहार

पीछे निर्देश कर चुके हैं कि महादेवी जी के काव्य में मिलन के चित्र विरल हैं। 'रश्मि' की एक रचना मे वे अपने को उस अज्ञात प्रियतम से घिरा पाती हैं। उस प्रकार के आभासों में श्रवण, नयन, घ्राण और स्पर्श सभी इन्द्रियों को थोड़ी देर के लिए तृप्ति प्राप्त होती है :—

श्रवण - सुख—

तब बुला जाता मुझे उस पार जो
दूर के संगीत-सा वह कौन है !

नयन - सुख—

तब चमक जो लोचनों को मूँदता,
तड़ित की मुस्कान मे वह कौन है !

घ्राण और स्पर्श-सुख -

सुरभि बन जो थपकियाँ देता मुझे

नींद के उच्छ्वास सा वह कौन है ?

'दीपशिखा' में हमने उनके ही मुख से सुना है कि 'रात की पराजय-रेख धोकर उषा ने किरण-अक्षत और हास-रोली' से स्वस्तिवाचन करते हुए उनका विजय-अभिषेक किया है। अब वे मिलन-मन्दिर में प्रवेश करने वाली हैं। उस नर्म-कथा, उस मर्म-गाथा, उस रहस्य-वार्त्ता के कुछ स्वर दूसरों के कानों तक भी शीघ्र पहुँच पाएँगे ऐसी आशा लिए हम बैठे हैं।

कला
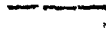
किसी कवि के कलात्मक होने के लिए अनिवार्य गुण तो यही है कि कोई सुकवि हो। पर सुकवि हम किसे कहें यह विवादास्पद हो सकता है। भावुक व्यक्ति सुकवि हो सकता है, शिक्षित व्यक्ति सुकवि हो सकता है, अभ्यास से सामान्य व्यक्ति सुकवि हो सकता है और केवल वाणी के अनुग्रह या प्रतिभा के बल पर, कोई व्यक्ति अमर हो सकता है। केवल भावुकता के बल पर, केवल शिक्षा के बल पर, केवल अभ्यास के बल पर, और केवल प्रतिभा के बल पर साहित्य के इतिहासों में अपने नाम छोड़ जाने वाले कवि किसी भी देश और किसी भी समृद्ध साहित्य में मिल सकते हैं। प्रकृति ऐसा अन्याय तो नहीं करती कि जिसे प्रतिभा दे, उसे हृदय न दे, जिसे हृदय दे उसे शिक्षा प्राप्त करने का संयोग न दे और जिसने पुस्तकों का ढेर लगा दिया हो उसमें कहीं भी प्रतिभा की झलक न हो। पर प्रतिभा, भावुकता और विद्वत्ता के संयोग का वरदान शताब्दियों में किसी तुलसी, किसी रवीन्द्रनाथ, किसी जयशङ्कर प्रसाद और किसी महादेवी को मिल पाता है।

कला-पक्ष अभिव्यक्ति-पक्ष है। पर अभिव्यक्ति की पंखुरियाँ खोलने के लिए उस वस्तु-सुमन के स्वरूप पर भी विचार करना आवश्यक होता है जिसकी वे पंखुरियाँ हैं। महादेवी के हृदय से निकले गीतों का आलंबन ब्रह्म है जो स्वयं निर्विकार रहने पर भी सभी परिवर्तनों की आश्रय-भूमि है, जो इस विराट् विश्व के

मुकुर-भवन में अलक्ष्य रूप से बन्दी होकर समस्त प्रतिबिंबों का आधार है, जिसमें 'नाम' 'रूप' की भ्रांति हो रही है, जो अखिल सौंदर्य का अजस्र स्रोत है। प्रणय-निवेदन के लिये इससे ऊँचे, इससे स्थायी, इससे सुन्दर, इससे आकर्षक आलंबन की कल्पना भी नहीं हो सकती। जब प्रेम करना ही है तो ऐसे स्नेही का सहारा क्यों न लिया जाय जो आत्मा को ऊँचा उठावे जलना ही है तो ऐसे क्यों न जला जाय. जिससे निर्मल कोमल आलोक फैले ? रोना ही है तो ऐसे क्यों न रोया जाय जो मन की मलिनता को धो दे ? सौंदर्योपासना करनी है तो ऐसे सुन्दर से अनुराग क्यों न किया जाय जिसका रूप अक्षय हो ? महादेवी जी की कला का जन्म अक्षय सौंदर्य के मूल से, दिव्य प्रेम के भीतर से, अलौकिक प्रकाश की गुहा और पावन उज्ज्वल आँसुओं के अन्तर से हुआ है।

गीतों की परम्परा यों सीधी वेदों से स्थापित की जा सकती है, पर हमारी भाषा की अमराई में सबसे पहिले स्वर-संधान मैथिल-कोकिल विद्यापति ने किया। विद्यापति के पद मिथिला-नरेश के अंतःपुर को एक दिन गुंजायमान करते थे, और आज भी उस भूमि में अपने रस-वर्णन के प्रभाव से सहस्र-सहस्र कोकिल-कंठी वनिताओं द्वारा हाट, बाट, उत्सव और एकान्त में गाए जाते हैं। इस माधुर्य ने ही बंगालियों के हृदय में यह क्षोभ उत्पन्न किया कि जिस प्रकार हो विद्यापति को बँगला-कवि सिद्ध किया जाय। बंगाल के अनेक गण्यमान वैष्णव कवियों पर इस 'अभिनव जयदेव' का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। विद्यापति के पदों को गुनगुनाते ही मधुर कंपन की असंख्य विद्युत लहरियाँ समस्त शिरा-उपशिराओं में तीव्र गति से

प्रवाहित होने लगती हैं। पर विद्यापति की भक्ति-भावना ने माधुर्य-भाव का आश्रय लेकर राधाकृष्ण के एकान्त-जीवन के जिस लीला-रस को इन पदों में भरा उसका आस्वादन स्थूल दृष्टि वालों को कठिन पड़ता है। यही कारण है कि विद्यापति को बहुतों ने घोर शृङ्गारी की संज्ञा दी। विद्यापति के उपरांत कबीर ने अपनी खंजरी सँभाली और एकाग्रता की मस्ती में सैकड़ों पद उनके ज्ञान-निर्झर से निसृत हुए। उनका अधिकांश व्याकरण की अव्यवस्था से पंगु और हठयोग के ताने-बाने से उलझा हुआ है। तब एक आँधरा गायक उठा जिसने अपने इकतारे पर एक लाख पद तैरा दिए और अपनी बन्द आँखों से नवनीत-चोर के प्रेम की असंख्य रंगोलियों को चित्रित किया। सूर के सजग होते ही न जाने कितनी राग-रागिनियाँ सजग हो उठीं। उस गायक की तानें आज भी भारतीय संगीतज्ञों की साधना की वस्तु हैं। पर काव्य के क्षेत्र में सूर में भाव और भाव-विस्तार में कोई अनुपात नहीं है, अर्थात् इन्होंने एक एक बात को अनेक पदों में गा-गा कर समरस कर दिया है। यह बात उनके चार पाँच हजार उपलब्ध पदों को एक ओर से पढ़ने पर अनुभव की जा सकती है। सूर के पदों का चयन जितना प्रभावशाली प्रतीत होता है उतना उनका संग्रह नहीं। उनके समकालीन महात्मा तुलसीदास की गीतावली और विनय-पत्रिका भी इस क्षेत्र में महत्त्व रखती हैं। तुलसी भी सूर की भाँति राग-रागिनियों के प्रजा के सम्राट् थे। गीतावली की पृष्ठभूमि में कथानक की धारा बहती है, अतः वे पद उतने संगीतात्मक नहीं हैं जितने वर्णनात्मक। गीतावली के कुछ प्रारम्भिक पद, जिनमें कोई कोई पचास पंक्तियों तक का है, और विशेष रूप से उत्तर

-काण्ड के पद, इसी प्रकार के हैं। विनय-पत्रिका के कुछ पद प्राय: गाए जाते हैं, पर कुछ चुने पद ही। उनमें से पचास से ऊपर तो संस्कृत की दीर्घ समास पद्धति के अनुकरण के कारण बुद्धि के लिए यहाँ तक बोझिल हैं कि संगीत-प्रेमी तो क्या साहित्य के विद्यार्थी के प्राण भी उनसे घबराते हैं और उनकी सबसे बड़ी उपयोगिता पुस्तक में प्रकाशित होना ही है। शेष पर उपदेश का रंग बहुत गहरा है जिसे अधिक मात्रा में पचाना सहज नहीं है। पदावली के गुणों की बहुलता और दोषों की अत्यधिक न्यूनता को लेकर चलने वाला काव्य केवल एक ही 'दरद-दिवानी' का है। और वह है मीरा। मीरा में स्वर लहरियाँ ही जैसे साकार हो गई हैं। मीरा ने रो-रो कर गाया है। अत: उसके शब्द-शब्द में क्रन्दन बंदी है, जिसके उच्चारण मात्र से हृदय भर भर उठता है। पर वह इतनी बावली भी थी कि भावावेश में कहने न कहने की सब बातों को बिना हिचक कह देती थी।

अर्वाचीन गीति-काव्य प्राचीन पदावली-साहित्य से भिन्न कोटि का है। पदावली साहित्य के साँचे भारतीय संगीत की राग-रागिनियाँ हैं और तुलसी को छोड़कर मात्राओं की पूर्ति का ध्यान सभी स्थलों पर विद्यापति, कबीर, सूर, मीरा आदि किसी ने नहीं रखा। वहाँ लय से सब पूरा हो जाता है। आधुनिक काल में उन ढाँचों की ओर थोड़ा बहुत आग्रह केवल निराला जी का ही है। आज का गीति-काव्य अंग्रेजी और बँगला गीति-काव्य की प्रतिस्पर्द्धा में खड़ा किया गया है। पर उसमें सब कुछ अपना है—अपने पिंगल का अनुकरण है, अपनी भाव-भंगिमा है, अपना स्वर-संशोधन है। प्रसाद ने अपने नाटकों और लहर पुस्तिका में, पंत ने गुञ्जन में और निराला ने गीतिका में कुछ

बहुत ही मधुर गीत हिंदी जगत को भेंट किए हैं। गीति-काव्य के क्षेत्र में भी हरिवंशराय जी बच्चन को विद्युत-गति से सफलता और ख्याति प्राप्त हुई। उनकी रचनाओं में संक्षिप्तता, स्वर-माधुर्य भाव-विभूति और आत्माभिव्यंजन के सभी अनिवार्य गुण एकत्र थे। पर उनके प्रभाव के मूल में एक प्रकार का अस्थायी नशा था जो उनकी भोगवादी फिलॉसफी से—जिसमें सत्-असत्, मन्दिर-मदिरालय को एक कर दिया था—छन कर युवकों पर छा जाता था। यही कारण है कि उस मादकता के हटते ही जिस गति से उनका उत्क्षेपण हुआ था, उसी गति से वे उतर आए। आज केवल उनके 'निशा-निमन्त्रण' को ही लोग स्मरण करते हैं और उनकी कृतियों में अभी तक यही वह रचना है जो समय की बाढ़ के आघात सहकर भी बनी रहेगी। कारण—वह आन्तरिक पीड़ा और स्वाभाविक उदासी से उद्भूत हुई है। प्रसाद, निराला और पन्त को अपने अपने क्षेत्र में अद्भुत सफलता मिली। ये तीनों ही कवि हिंदी के प्रथम श्रेणी के कवियों में हैं। पर फिर भी तीनों में कुछ ऐसा है जो उनके गीति-काव्य को पूर्णता प्राप्त नहीं होने देता। प्रसाद के नाटकों में अधिकांश गीतों का भाव के भीतर भाव और उस भाव के भीतर भी भावों का गुम्फन होने से आकर्षण एकदम कुंठित हो गया है। लहर में दो-एक गीतों को छोड़ भाव का सूत्र चिंतन की इतनी गहराई में मिलता है जहाँ पहुँचने का कष्ट पाठक सामान्य रूप से नहीं उठाता। निराला ने गीतिका में सहज-भाव से नहीं लिखा। पहिले उन्होंने साँचे तैयार कर लिए हैं और फिर उनमें शब्दों की स्थापना की है, लय और विशेष रूप से अनुप्रास का प्रयोग बहुत सचेष्ट हो कर उन्होंने किया है। खराद की तराश उन रचनाओं

में बहुत है। उनमें स्वरों का उतार-चढ़ाव तो है, पर भावों का गहराई नहीं, अलाप की मधुरता तो है पर दर्द या आह्लाद की अतिशयता नहीं। पन्त का गुञ्जन आकर्षण का गुञ्जन है। उनकी रचनाओं में बाह्य-सौंदर्य की इन्द्रधनुषी रेखाएँ तो हैं, पर किसी गहरी चोट का निदर्शन उनमें नहीं है। इसी से वे अतर में पैठती नहीं। संयोग-काल की 'आज रहने दो यह गृहकाज' जैसी विलक्षण माधुर्य-सम्पन्न रचना दूसरी दिशा में है ही नहीं।

नीरजा की सृष्टि के साथ गीति-काव्य की परम्परा महादेवी में जैसे अपनी पूर्णता को पहुँच गई। उनका मानस भी तरंगायित है, पर तट को नहीं डुबाता; दर्शन की वे भी पंडिता हैं, पर माया और मन के विकारों पर ही दृष्टि गड़ाये रखना उनका काम नहीं; भाव-गांभीर्य उनमें भी है, पर शुष्कता बचाकर; भारतीय संगीत से उनका भी परिचय है, पर कलाबाज़ियों को नमस्कार करके; अलंकारों का प्रयोग वे भी करती हैं, पर अनायास ही, अकृत्रिमता से। उनके गीतों को अनेक बार दुहराने पर भी मन जैसे तृप्त नहीं होता--

१

गूँजती क्यों प्राण-वंशी!
शून्यता तेरे हृदय की
आज किसकी साँस भरती!
प्यास को वरदान करती,
स्वर-लहरियों में बिखरती;
आज मूक अभाव किसने कर दिया लयवान वंशी!

गूँजती क्यों प्राण-वंशी !
अमिट मसि के अंक से
छूने कभी थे छिद्र तेरे,
पुलक के अब हैं बसेरे,
मुखर रन्ध्रों के चितेरे,
आज ली इनकी व्यथा किन उँगलियों ने जान वंशी !
गूँजती क्यों.........

—दीपशिखा

— २ —

मैं पलकों में पाल रही हूँ यह सपना सुकुमार किसी का !
जाने क्यों कहता है कोई,
मैं तम की उलझन में खोई,
धूममयी वीथी वीथी में
लुक छिप कर विद्युत-सी रोई
मैं कण-कण में ढाल रही अलि आँसू के मिस प्यार किसी का !
पुतली ने आकाश चुराया,
उर ने विद्युत-लोक छिपाया,
अंगराग-सी है अंगों में
सीमाहीन उसी की छाया
अपने तन पर भाता है अलि जाने क्यों शृंगार किसी का !
मैं कैसे उलझूँ इति अथ में,
गति मेरी संसृति है पथ में,
बनता है इतिहास मिलन का
प्यास भरे अभिसार अकथ में,

मेरे प्रति पग पर बसता जाता सूना संसार किसी का !

दीपशिखा

—१—

घिरती रहे रात !

न पथ रूँधतीं ये
गहनतम शिलायें;
न गति रोक पातीं
पिघल मिल दिशायें
चली मुक्त मैं ज्यों मलय की मधुर वात !
न आँसू गिने औ'
न काँटे सँजोये,
न पगचाप दिग्भ्रात
उच्छ्वास खोये;
मुझे भेंटता हर पलक-पात में प्रात !
स्वप्न ? स्वर्ण कैसा
न जो ज्वाल धोया ?
हँसा कब तड़ित में
न जो मेघ रोया !
लिया साध ने तोल अंगार—संघात !
घिरती रहे.......

—दीपशिखा

छन्द सभी मात्रिक हैं, और वे पूरे उतरते हैं। रश्मि की दो रचनाएँ—अलि और पपीहे पर—दुर्मिल सवैया होने के कारण

वर्णवृत्त में सम्मिलित हो सकती हैं, पर उनमें भी 'सगण' (IIS) का निर्वाह ठीक रूप से नहीं हुआ यद्यपि वर्ण प्रत्येक पंक्ति में यथानुसार २४ ही हैं।

मात्रिक छन्दों के अतिरिक्त अनेक लोक-गीतों में महादेवी जी ने नवीन प्राण-प्रतिष्ठा की है। गीतों में टेक की विविधता से एक प्रकार की नूतनता, मौलिकता और मुग्धता भरी हुई है। इनमें जो कोमलता, जो मधुरता और जो गूँज है उसकी प्रशंसा सामर्थ्य के बाहर है। केवल स्वर-साधन से उनके प्रभाव का परिज्ञान हो सकता है। उनमें संगीत का वह मोहन-मंत्र है जो मन को लोरी देकर स्वप्नाविष्ट करने की शक्ति रखता है। नीरजा से बढ़कर सांध्य-गीत और सांध्य-गीत से बढ़कर दीपशिखा में उनकी स्वर लहरी कोमल से कोमलतर और कोमलतर से कोमलतम हो गयी है। जीवन के अगाध अकूल क्षारसिन्धु से कितनी एकांत रातों में व्यथित प्राणों की रई के संचालन से यह अमृत-मंथन हुआ है, कहा नहीं जा सकता।

आधुनिक हिन्दी कविता के सम्बन्ध में यह शिकायत अभी तक बनी हुई है कि वह स्पष्टता से समझ में नहीं आती। शिकायत करने वालों में कुछ तो प्राचीन संस्कारों से पूर्ण व्यक्ति हैं, जिनका काम केवल नवीनता का विरोध करना है, पर अधिकतर व्यक्ति ऐसे हैं जो वास्तव में काव्य के प्रेमी हैं पर आधुनिक कविता की भाव-प्रणाली तथा वर्णन-पद्धति से परिचित न होने के कारण उसके रस को ग्रहण करने में असमर्थ रहते हैं।

आधुनिक कविता में शब्दों का सामान्य अर्थ सर्वत्र नहीं है। जब कवि समुद्र, निर्झर, मणि अथवा दीपक का नाम लेता

है तब उसका तात्पर्य आत्मा से होता है; जब तम कहता है तब निराशा अथवा अज्ञान की चर्चा करता है; जब हास्य अथवा रश्मि पर कविता लिखता है तब उसके दृष्टि-पथ में आशा और ज्ञान होते हैं। इसी प्रकार जब पथिक या पक्षी को सम्बोधन करता है तब वास्तव में साधक उसकी कल्पना में घूमता है। इस प्रकार आज की कविता प्रतीकों, समासोक्तियों, रूपकों और लाक्षणिक प्रयोगों की चहार-दीवारी के भीतर भावों के उस भवन में जिसके द्वार तक विभिन्न वादों की सीढ़ियाँ गईं हैं, जहाँ विचार और कल्पना पहरेदार हैं, बैठी है। उस तक पहुँचने के लिए थोड़े मानसिक श्रम और श्रद्धा के सम्बल की आवश्यकता है।

महादेवी जी का काव्य अत्यधिक सांकेतिक है, इसी से कहीं-कहीं दुरूह-सा लगता है। वे भी अपनी बातों को प्रतीकों के माध्यम से कहती हैं। इनमें कुछ प्रतीक तो परिचित होने के कारण बुद्धिगम्य रहते हैं—जैसे सागर संसार के लिए, तरी जीवन के लिए, पतवार साहस के लिए, जलचरवृन्द कुवासनाओं के लिए; अथवा तम अज्ञान के लिए, प्रकाश ज्ञान के लिए; इसी प्रकार वीणा के तार हृदय के भावों के लिए, गायक साधक के लिए।

कुछ प्रतीक, जिनका व्यवहार प्रचुरता से नहीं होता या भिन्न अर्थ में होता है, तात्पर्य ग्रहण कराने में थोड़ा बाधा उपस्थित करते हैं। शलभ की गणना चातक और मीन के साथ आदर्श प्रेमियों में होती रही है, पर महादेवी जी ने जहाँ आत्मा की दीपक रूप में कल्पना की है वहाँ शलभ को मोहमूलक सांसारिक आकर्षण मानकर उसकी अवज्ञा की है या फिर उसके प्रति दया दिखलाई है :—

(अ) शलभ मैं शापमय वर हूँ !
किसी का दीप निष्ठुर हूँ !
शून्य मेरा जन्म था
अवसान है मुझको सवेरा
प्राण आकुल के लिये
संगी मिला केवल अँधेरा
मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ !
नयन में रह किन्तु जलती
पुतलियाँ आगार होंगी;
प्राण में कैसे बसाऊँ
कठिन अग्नि—समाधि होगी !
फिर कहाँ पालूँ तुझे मैं मृत्यु—मंदिर हूँ !
(आ) शेष यामा यामिनी मेरा निकट निर्वाण !
पागल रे शलभ अनजान !
कर मुझे इंगित बता किसने तुझे यह पथ दिखाया ?
तिमिर में अज्ञातदेशी क्यों मुझे तू खोज पाया ?
अग्निपन्थी मैं तुझे दूँ
कौन सा प्रतिदान ?

—दीपशिखा

'इन हीरक के तारों को कर चूर बनाया प्याला' की उद्धरणी कल्पना की उत्कटता दिखाने के लिए कई लेखों में हुई है। तारे महादेवी जी के काव्य में लौकिक भावों के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। नीहार की निम्न-लिखित पंक्तियों को दीपशिखा के अनेक उद्धरणों की संगति में मिलाकर पढ़िये। आश्चर्य है कि वे एक स्थल पर भी नहीं भटकी हैं !

(१) इन हीरक के तारों को
कर चूर बनाया प्याला,
पीड़ा का सार मिलाकर
प्राणों का आसव ढाला !

(२) (अ) मीत तारक मूँदते दृग ।
(आ) झर गए खद्योत सारे
तिमिर वात्या-चक्र में सब
पिस गए अनमोल तारे !
(इ) झर चुके तारक-कुसुम अब !
(ई) राख से अंगार तारे झर चले हैं !

किसी भी एक निश्चित अर्थ में प्रतीक का प्रयोग होने पर कभी अर्थ में व्याघात नहीं उत्पन्न होगा। महादेवी जी के ऋतु सम्बन्धी प्रतीक लीजिये। वे ग्रीष्म का प्रयोग रोष के लिये, वर्षा का करुणा के लिए, शिशिर का जड़ता के लिए, पतझर का दुःख के लिए और वसन्त का आनन्द के लिए करती हैं। यहाँ तक तो ठीक है। पर एक प्रतीक का प्रयोग एक ही भाव के लिए हो, उनके यहाँ ऐसा नियम नहीं है। जहाँ शिशिर से उनका तात्पर्य जड़ता से है, वहाँ मधुऋतु का कहीं-कहीं चेतना से भी। भावों के लिए ही उन्होंने कहीं 'वीणा के तार' लिखा है, कहीं 'कलियों के उच्छ्वास' और कहीं 'उज्ज्वल तारे'। बुद्धि के लिए कहीं उन्होंने 'जुगनू' लिखा है, कहीं 'नक्षत्र प्रकाश'। सुख के लिए जहाँ मधु' का प्रयोग करती हैं, वहाँ 'रश्मि' और 'मलय-पवन' का भी। आँसुओं का भाव उन्होंने 'नक्षत्रों' से भी ग्रहण किया है, 'मकरन्द' से भी, 'मोती' से भी और 'तुहिन-कण' से भी। जीवन का

अर्थ वे 'तरी' से ही नहीं खीचतीं, 'वसंत' 'प्याली' और 'लहर' से भी। जड़ता को 'शिशिर' में ही निहित नहीं कर दिया, 'रज' को भी उसके लिए अपनाया है। इच्छाओं के लिए किसी स्थल पर 'मकरन्द', किसी पर 'सौरभ', किसी पर 'इन्द्र धनुष के रंगों' से काम निकाला है। कहने का तात्पर्य यह है कि आकार अथवा वर्ण साम्य पर प्रतीकों का अर्थ लगाते हुए भी प्रसंग पर बहुत कुछ निर्भर रहना पड़ता है। प्रसंग का ध्यान न रखने से भ्रांत होजाना असम्भव नहीं। कुछ प्रतीक देखिए :—

—नीहार—

(१) बिखरे से हैं तार आज,
मेरी वीणा के मतवाले।

(२) तरी को ले जाओ मँझधार,
डूबकर हो जाओगे पार।

—रश्मि—

(३) इन कनकरश्मियों में अथाह,
लेता हिलोर तमसिंधु जाग।

(४) ढुलक जो पड़ी ओस की बूँद
विश्व के शतदल पर अज्ञात
तरल मोती सा ले मृदु गात,
नाम से जीवन से अनजान,
कहो क्या परिचय दे नादान!

—नीरजा—

(५) इसमें न पङ्क का चिन्ह शेष,
इसमें न ठहरता सलिल लेश,
इसको न जगाती मधुप-भीर।

—सांध्यगीत—

(६) क्या न तुमने दीप बाला ?
यह न झंझा से बुझेगा
बन मिटेगा, मिट बनेगा
भय इसे है हो न जावे
प्रिय तुम्हारा पन्थ काला ।

—दीपशिखा—

(७) मुझे भेंटवा हर पलक-पात में प्रात !
घिरती रहे रात !

खड़ी बोली उतनी ही पुरानी है जितनी ब्रज और अवधी। सूफी कवियों, तुलसी और रहीम ने यद्यपि अवधी को गौरव प्रदान किया, पर हिन्दी में एकछत्र राज्य रहा ब्रजभाषा का। कवियों की शताब्दियों की साधना से ब्रजभाषा में वह माधुर्य भर गया कि जब खड़ी बोली में पहिले-पहल कविता प्रारम्भ हुई तब वाणी में लोच की हीनता पर प्राचीन काव्य के प्रेमियों ने उस बालिका का गला घोंट देना चाहा। क्षुब्ध होकर ब्रजभाषा के ऐसे अन्धभक्तों का विरोध बड़े आवेश के साथ पन्तजी ने 'पल्लव' के 'प्रवेश' में किया। आज स्थिति बदल चुकी है। जिन दिनों पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लेखनी सँभाली थी तब से अब तक एक विराट् परिवर्तन उपस्थित हो चुका है। इन थोड़े दिनों में किसी अन्य भाषा ने प्रेमचन्द, प्रसाद, पं० रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, मैथिली शरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, महादेवी, पंत और निराला जैसे साहित्यकार उत्पन्न किए हों पता नहीं।

हिन्दी के प्रायः सभी बड़े साहित्यकारों ने, जिनमें श्री मैथिलीशरण गुप्त और श्री सुमित्रानन्दन पंत मुख्य हैं, खड़ी बोली को काव्योपयोगी बनाने में बड़ा श्रम किया है। यों प्रसाद में 'वचन' की गड़बड़ी, पंत में स्त्रीलिंग-पुल्लिंग का विचित्र सम्मिश्रण, निराला में मनोनुकूल समास और शब्द-निर्माण पाया जाता है। मैथिलीशरण जी व्याकरण-सम्मत भाषा लिखते हैं, पर तुक मिलाते समय अनुपयुक्त और भरती के शब्दों का प्रयोग करने लगते हैं। महादेवी जी से भी प्रारम्भ में कुछ असावधानियाँ हुई हैं, पर गिनी चुनी।

भाषा उनकी अत्यन्त परिष्कृत, अत्यन्त मधुर और अत्यन्त कोमल है। उसमें कहीं कर्कशता का चिन्ह नहीं। खड़ी बोली के कवियों में जो मसृणता उनकी भाषा में है, वह समरूप से किसी की भाषा में नहीं। पर्वत के टुकड़े नदी की धारा में बहुत दूर तक बहकर धीरे-धीरे अपने खुरदरेपन को खोते हुए जब चिकने हो उठते हैं, उस दूरी का पता उनकी भाषा से मिलता है। भाषा जैसे माधुर्य गुण की खराद पर उतार दी गई हो। इतना होते हुए भी मात्राओं की पूर्ति और तुक के आग्रह के लिए कुछ शब्दों का अंग-भंग, रूप परिवर्तन और अंग-वार्द्धक्य हो गया है जैसे 'बतास' 'अधार' 'अभिलाषें', 'ज्योती' 'अन्धाकार', 'कर्णाधार' आदि। केवल कविता में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों का भी कहीं-कहीं प्रयोग है जैसे 'बैन' (वचन), नैन (नयन), आन (आ), बयार (वायु) हौले (धीरे)। कोमलता के लिए कहीं 'जोड़' के लिए 'जोर' लिख दिया है। कई स्थानों पर 'यह' शब्द का प्रयोग महादेवी जी ने 'बहुवचन में किया है। 'यह' के स्थान पर 'ये' लिखना चाहिये। उपाध्याय जी ने भी यह भूल की है, पर उन्होंने भूमिका में

उसे स्वीकार कर लिया है—"इस ग्रन्थ (प्रिय-प्रवास) में आप कहीं कहीं बहुवचन में भी 'यह' और 'वह' का प्रयोग देखेंगे। मैंने ऐसा संकीर्ण स्थलों पर ही किया है। मेरा विचार है कि बहुवचन में 'ये' और 'वे' का प्रयोग ही उत्तम है।" महादेवी जी की यह प्रवृत्ति-सी दिखाई देती है। उपाध्याय जी में यह दोष इसलिए क्षम्य है कि उन्होंने वर्णवृत्त लिए हैं। वर्णवृत्त में शब्दों की गिनती और लघु गुरु का ध्यान रखना पड़ता है, अतः जहाँ ऐसे प्रयोग न बचाए जा सकें वहाँ विवशता है। परन्तु महादेवी जी के गीतों और मात्रिक छन्दों के लिए यह आवश्यक नहीं है। वहाँ केवल मात्राओं की गिनती पूरी होनी चाहिए। 'यह' और 'ये' दोनों में मात्राएँ समान हैं। व्याकरण के इस बन्धन को तोड़ने के लिए केवल स्वरपात का तर्क ही कुछ उपस्थित किया जा सकता है। देखिए—

(१) दुखमद के चषक यह नयन।
(२) यह खिलौने और यह उर! प्रिय नई असमानता है।
(३) उड़ रहे यह पृष्ठ पल के।

साहित्य-जगत का यह एक बहुत बड़ा सत्य है कि जब कोई प्राणी पहले लेखनी उठाता है तब उसकी रचनाओं में भाव कम और शब्दों का बाहुल्य अधिक होता है। कुछ दिनों के उपरान्त भाव और भाषा का संतुलन हो जाता है और एक दिन ऐसा भी आता है जब वह थोड़े से थोड़े शब्दों में गहरे से गहरे भावों को सहज भाव से व्यक्त कर देता है। 'नीहार' में महादेवी जी अपनी आरम्भिक अवस्था में हैं। 'नीरजा' तक आते आते उनके भावों और भाषा में मैत्री स्थापित हो गई है और 'दीपशिखा' में तो

उनके काव्य में पूर्ण प्रौढ़ता आ गई है। एक ही मेघ पर तीन ग्रंथों में उनके तीन चित्र देखिए और यह भी देखिए कि समय की दूरी ने किस प्रकार उन्हें सामान्य चित्रण से अलंकार-विधान और अलंकार विधान से मार्मिक बात कहने की शक्ति दी—

(१) घोर तम छाया चारों ओर
घटाएँ घिर आईं घनघोर

—नीहार

(२) घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय !
जलधि मानस से नव जन्म पा
सुभग तेरे ही दृग व्योम में,
सजल श्यामल मंथर मूक-सा
तरल अश्रु विनिर्मित गात ले;
नित घिरूँ झर झर मिटूँ प्रिय !
घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय !

—नीरजा

(३) सिन्धु का उच्छ्वास घन है !

—दीपशिखा

'नीहार' में आधुनिक हिंदी कविता की कुछ अन्य विशेषताएं—शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग, अमूर्त वस्तुओं के लिए मूर्त योजनाएँ, भावों और प्राकृतिक रूपों के मानवीकरण—अधिक मात्रा में पाई जाती हैं; जिन्हें कुछ लोग चिढ़कर दोषों में गिनते हैं। नीहार में सूखापन बिखरता, इच्छाएँ सिहरतीं, आशा मुस्कुराती, करुणा ढुलकती, आहें सोतीं, शून्य गाता, प्रभात हँसता, किरणें मचलतीं, चाँदनी रोती है। वहाँ कामना की पलकें और मलया-

निल की झलकें देखने को मिलती हैं। आगे के काव्य ग्रन्थों में ऐसे प्रयोग कुछ कम तो हो-गये हैं, पर एकदम मिट नहीं गये। एक बार किसी लेखक की जो शैली निश्चित हो जाती है वह फिर कठिनाई से बदलती है।

कविता गद्य नहीं है, अतः कवि की कल्पना में जिस क्रम से बातें घूमती हैं, उन सभी का उसी क्रम से ब्यौरेवार उल्लेख करना न उसके लिये सम्भव है और न आवश्यक। पर कहीं-कहीं उसकी दृष्टि में जो दृश्य रहता है उसके किसी प्रमुख अंग के छूट जाने से बिना अध्याहार किये अर्थ नहीं खुलता। नीचे का गीत लीजिये :—

पुलक पुलक उर, सिहर सिहर तन,
आज नयन आते क्यों भर भर!
सकुच सलज खिलती शेफाली
अलस मौलश्री डाली डाली;
बुनते नव प्रवाल कुञ्जों में
रजत श्याम तारों से जाली
शिथिल मधु पवन, गिन-गिन मधुकण
हरसिंगार झरते हैं झर झर
पिक की मधुमय वंशी बोली,
नाच उठी सुन अलिनी भोली ..

कोकिल के तान छेड़ते ही भ्रमरी नृत्य करने लगी। इसमें तो इतनी ही कल्पना से काम चल जायगा कि कोकिल के कूकते ही प्रभात होने का पता चला। प्रभात में अरुणोदय होगा। अरुणोदय होते ही कमल खिलेंगे। कमलों के खिलने पर भ्रमरी रसपान कर सकेगी। रसपान से आनन्द की उपलब्धि होगी।

इसी मुग्धता की कल्पना में वह थिरक उठी है। पर 'बुनते नव प्रवाल कुंजों में रजत श्याम तारों से जाली' का अर्थ सहसा न खुल सकेगा। प्रवाल शब्द का उच्चारण करते ही इसका प्रसिद्ध अर्थ मूँगा यद्यपि ध्यान में आता है, पर प्रसंग उद्यान का है; अतः वह ठहरता नहीं। 'किशलय' का अर्थ लेना होगा -'अभी तो हैं ये नवल 'प्रवाल' नहीं छूटी तरु-डाल' ('पल्लव')। पर पल्लव भी सित-असित तारों से जाली कैसे बुन रहे हैं, समझ में नहीं आता! कल्पना करनी पड़ती है कि सम्भवतः कुंजों में ऊपर से चाँदनी छनछनकर बिखर रही है; अतः वृक्षों के नीचे ज्योत्स्ना और छाया का एक जाल सा बन गया है। प्रसाद ने भी लिखा है—

> लिपटे सोते थे मन में
> सुख दुख दोनों ही ऐसे,
> चंद्रिका-अँधेरी मिलते
> मालती-कुंज में जैसे
>
> —आँसू

यह तो स्थिर है कि ये रचनाएँ शृंगार रस के अंतर्गत आयेंगी। इनमें 'आश्रय' महादेवी और आलंबन उनका अलक्ष्य प्रियतम है। रूढ़ि के अनुसार रति इनका स्थायी भाव है। विभिन्न रचनाओं में कहीं चाँदनी रात, कहीं पावस ऋतु, कहीं मलय-समीर उद्दीपन के रूप में आये हैं। सात्विकों में रोमांच, कंप (सिहरन) और अश्रु का अधिक उल्लेख है। सञ्चारियों में विषाद और स्मृति का बाहुल्य है। अभी संयोग पक्ष का रचनाओं में निदर्शन ही नहीं है, अतः विप्रलंभ शृंगार ही इनकी एक मात्र संज्ञा है। अध्यात्म-साधना को देव विषयक रति कहकर लक्षण

ग्रन्थकारों ने उसे शृङ्गार की कोटि में रखा है। इच्छा होती है ऐसे उज्ज्वल रस का कोई और भला सा नाम होता।

एक विद्वान् का कहना है कि महादेवी की प्रेम-व्यंजना में रस-मग्नता नहीं, रसाभास है। उसके दो कारण उन्होंने दिए हैं। पहिला यह कि आलंबन अलक्ष्य है; दूसरे इस शृंगार में विरह-वेदना ही विरह-वेदना है, सुखात्मक अनुभूति की गुंजाइश बहुत कम है। हिन्दी के कुछ आलोचकों में यह प्रवृत्ति बढ़ रही है कि या तो वे प्राचीन स्थिर सिद्धान्तों को सभी स्थलों पर लगाते चलते हैं या काव्य में प्रवेश करने से पहिले अपनी धारणाएँ निश्चित कर लेते हैं। रस-निष्पत्ति के प्रकरण में आचार्यों ने यह भी कहा है कि दर्शक या पाठक का भावज्ञ होना सबसे पहिली आवश्यकता है। नाट्यशाला में यों दर्शकों के साथ पत्थर के खम्भे भी खड़े होते हैं, पर उनमें कोई रस की निष्पत्ति देखना चाहे तो उसे निराश ही लौटना पड़ेगा। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार काव्य-प्रणेता में विधायक-शक्ति का होना आवश्यक है, उसी प्रकार पाठक में ग्राहक-शक्ति की अवस्थिति भी। यह तो हुई किसी के काव्य को सहानुभूति-पूर्वक न पढ़ने की बात। अब रही यह बात कि जिस रूप में महादेवी जी अनुभव करती हैं—साधारणीकरण के लिए—उसी रूप में हम भी अनुभव करते हैं या नहीं? सामान्य दृष्टि से महादेवी जी का यह प्रेम व्यक्तिगत प्रतीत होता है—वे हैं, उनका प्रियतम है, उस प्रियतम से उनका विछोह हो गया है, उस वियोग में वे रात-दिन रोती रहती हैं। पर बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। अपनी रचनाओं में स्वय महादेवी जी एक प्रतीकमात्र हैं। अर्थात् आश्रय के रूप में महादेवी नहीं, हम सबकी आत्मा है। इस दृष्टि से महादेवी के गीत, महादेवी के

न होकर आत्मा के गीत हैं। केवल उनके प्रेम के गीत होने पर भी इन गीतों में ऐसी कोई बात नहीं है जिसके कारण हम उनसे तादात्म्य का अनुभव न कर सकें और आत्मा के गीत होने से तो किसी भावुक के लिए रस-मग्नता की कमी के खटकने की कोई बात ही नहीं उठती।

अलंकारों के क्षेत्र में महादेवी जी ने बड़ी सुरुचि का परिचय दिया है। काव्य में अलङ्कारों का विधान भावों को रमणीयता प्रदान करने के लिए होता है, या फिर उन्हें तीव्र अथवा स्पष्ट करने के लिए। उनका काव्य व्यंग्य-प्रधान है, अतः स्वभावतः उन्हें समासोक्ति से काम लेना पड़ा है। प्रस्तुत अर्थ से जहाँ अप्रस्तुत (किसी अन्य इच्छित) अर्थ का बोध होता है वहाँ समासोक्ति होती है। यदि कहा जाय कि 'चन्द्रमा के दर्शन से कुमुदिनी खिल उठी' तो यह प्रकृति-जगत का तो सत्य है ही, परंतु कवि इस कथन के द्वारा इस बात का सङ्केत करना चाहता है कि कोई प्रणयिनी अपने प्रेमी को दूर से आते देख पुलकित हो उठी है। अंतर में ज्ञान की रश्मियों के उदित होते ही अज्ञान का तम विदूरित होता है और जीव को अपूर्व विश्राम मिलता है। 'रश्मि' की प्रथम और 'दीपशिखा' की पचासवीं रचना में यही सकेत कवयित्री का है, यद्यपि उन स्थलों पर प्रभात के वर्णन भी अपने में पूर्ण हैं :—

(अ) चुभते ही तेरा अरुण बान—
इन कनक रश्मियों में अथाह
लेता हिलोर तम सिंधु जाग;
बनती प्रवाल का मृदुल कूल
जो क्षितिज रेख थी कुहर-म्लान

(आ) सजल है कितना सवेरा!

राख से अङ्गार तारे झर चले हैं,
धूम बन्दी रंग के निर्झर खुले हैं,
खोलता है पंख रूपों में अँधेरा !
कल्पना निज देखकर साकार होते,
और उसमें प्राण का संचार होते,
तूलिका रख सोगया दीपक-चितेरा !

समासोक्ति से भी अधिक महादेवी जी ने रूपकों को अपनाया है। रूपक में उपमेय और उपमान की एकरूपता प्रतिष्ठित की जाती है जिसमें आकृति, स्वभाव अथवा कार्य का अभेद रहता है। निम्नांकित सांग रूपक में कितना परिचित, कितना मार्मिक व्यापार किस सहज विदग्धता से अङ्कित हुआ है ! मानस से बादल उठें और कहीं टकराकर बरस जाएँ, मोती बनने के लिए इतना ही तो यथेष्ट नहीं है ! इसी आधार पर 'सुधि स्वाती की छाँह' दोनों दिशाओं मे कैसा गहन व्यापार छिपाए हुए है !

तरल मोती से नयन भरे !
मानस से ले उठे स्नेह-घन,
कसक विद्यु, पुलकों के हिमकण,
सुधि स्वाती की छाँह पलक की सीपी में उतरे !

—दीपशिखा

सन्ध्याकालीन एक और रम्य सांग रूपक का निरीक्षण कीजिए जिसमें प्रकृति की वस्तुओं से ही उपमेय और उपमान दोनो चुन लिए गए हैं ! कैसे दिव्य शांत सौन्दर्य की अजस्र माधुर्य-धारा यहाँ बह रही है—

गोधूली अब दीप जला ले !
किरण-नाल पर घन के शतदल,

कलरव-लहर विहग-बुद्बुद चल,
क्षितिज-सिन्धु को चली चप ;
आभा-सरि अपना उर उमगा ले !

—दीपशिखा

अर्थालङ्कारों में उपमा ऐसा अलङ्कार है जिससे कोई अछूता नहीं बच सकता। हाँ, उसकी उपयुक्तता और सरसता के आधार पर ही एक कवि की भाव-भरी कल्पना का अन्तर दूसरे से आँका जा सकता है। रूप गुण अथवा कर्म की समानता के लिए जो उपमान लाए जाएँ वे अपने को सार्थक करें यही उपमा में विशेष रूप से देखा जाता है। महादेवी जी की उपमाओं से बाह्य विधियों (वर्णसाम्य, गुणसाम्य, कर्मसाम्य) की पूर्ति तो होती ही है, साथ ही कहीं सुरुचि, कहीं भव्यता, कहीं पीड़ा, कहीं आर्द्रता, कहीं उपरामता—जिन्हें व्यंजित करना उनका लक्ष्य रहता है—शब्दों से स्वतः टपकती है :—

(१) अवनि अम्बर की रुपहली सीप में
तरल मोती-सा जलधि जब काँपता

—रश्मि

(२) बिखर जाती जुगनुओं की पाँति भी;
जब सुनहले आँसुओं के हार-सी।

—रश्मि

(३) कनक - से दिन, मोती - सी रात

—रश्मि

(४) बिखरती उर की तरी में
आज तो हर साँस बनती शतशिला के भार सी है

—दीपशिखा

(५) रात-सी नीरव व्यथा, तम-सी अगम मेरी कहानी

—दीपशिखा

(६) तड़ित उपहार तेरा—
बादलों-सा प्यार है मेरा

—दीपशिखा

(७) वह सुनहला हास तेरा
अंक भर घनसार सा
उड़ जायगा अस्तित्व मेरा।

—सांध्यगीत

(८) तब उनका गिरि-सा गुरु अन्तर
मैं सिकता कण-सी आई झर

—नीरजा

(९) पीड़ा मेरे मानस से
भीगे पट-सी लिपटी है।

—नीहार

नीचे की पंक्तियों में 'उपमा', 'क्रम' और 'अपन्हुति' तीनों अलङ्कार एक साथ आए हैं—

एक प्रिय दृग-श्यामता-सा,
दूसरा स्मित की विभा-सा
यह नहीं निश दिन इन्हें
प्रिय का मधुर उपहार रे कह!

'नीरजा' की 'जागो बेसुध रात नहीं यह' गीत का आधार ही 'अपन्हुति' है। महादेवी जी की रचनाओं में उल्लेख के भी बहुत स्पष्ट उदाहरण पाए जाते हैं। रश्मि की 'तुम हो विधु के

बिंब और मैं...' रचना देखने योग्य है। फिर भी एक छोटा-सा उदाहरण लीजिए:—

चित्रित तू मैं हूँ रेखा-क्रम
मधुर राग तू मैं स्वर-संगम,
तू असीम मैं सीमा का भ्रम!

शब्दालङ्कारों की ओर अपनी रुचि महादेवी जी ने नहीं दिखलाई। शब्द श्लेष शायद ही कहीं मिले। अनुप्रास जहाँ अपने आप आगया है, आ जाने दिया है। नीरजा में एक स्थान पर यमक आ गया है—अनायास!

जगती जगती की मूक प्यास!

महादेवीजी के चित्र भी उनकी कला का एक अंग हैं। जिस प्रकार के चित्र दीप-शिखा में रक्षित हैं उसी ढंग का एक चित्र यामा के बिल्कुल प्रारम्भ में दिया हुआ है, जिससे यह आभास मिलता है कि दीपशिखा के प्रस्तुत प्रकाशन की रूप-रेखा यामा के प्रकाशन-काल में ही उनके मस्तिष्क में अङ्कित हो गई थी। यामा के चित्र बाह्य प्रकृति से सम्बन्ध रखते हैं और दीपशिखा के आंतरिक हलचल से। यामा के चित्रों से जैसे भव्यता, रम्यता, शान्ति अथवा सुषमा बरसती है; उसी प्रकार दीपशिखा के चित्रों से प्रतीक्षा, उत्सुकता, अवसाद और आकुलता। इन चित्रों में—विशेषकर उनके केश-विन्यास और आकृति अङ्कन में—वे कहाँ तक मौलिक हैं और कहाँ तक उन्होंने प्राचीन तथा अर्वाचीन भारतीय अथवा विदेशी शैलियों का अनुकरण अथवा सम्मिश्रण किया है इस प्रकार की विशिष्ट बातें उनकी चित्र-कला का कोई मार्मिक अधिकारी विवेचक ही बता सकता है। पर उनके काव्य की सहयोगी-कला के विचार से ये चित्र अपनी

सृष्टि में पूर्ण सफल रहे हैं। इनका वर्ण-विधान अत्यन्त उपयुक्त और अङ्गविन्यास आलेखन—विशेष-रूप से नेत्रों की भाव-स्थितियाँ, कर की मुद्राएँ और पद संचालन—इतना व्यंजक है कि यदि ये चित्र स्वतन्त्र रूप से भी भावुकों के सामने आते तब भी उनकी दृष्टि को बहुत देर तक आकर्षित करते।

जैसे काव्य में आंतरिक सौंदर्य को उसी प्रकार चित्रों में नारी की अंग-माधुरी की एक विलक्षण सृष्टि महादेवी ने की है। पर इनकी सबसे बड़ी विशेषता उन भावों का सफल निदर्शन है जो उन विविध गीतों में बन्दी हैं, जिनकी बाह्य प्रतिकृतियाँ ये चित्र हैं।

चित्रों में रमणी मूर्तियों के साथ दीपक, शतदल अथवा काँटे आप प्रायः पाएँगे। ये तीनों क्रमशः आत्मा, भावना और पीड़ा के प्रतीक हैं। अपने गीतों में ही महादेवी जी ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है—

(१) दीप मेरे जल अकंपित,
घुल अचचल! —गीत १

(२) ले मिलेगा उर अचंचल,
वेदना-जल स्वप्न शतदल। —गीत २

(३) फिर तुमने क्यों शूल बिछाए! —गीत २६

इस प्रकार हम देखते हैं कि महादेवी जी के यहाँ एक ओर चित्र-कला की गोद में काव्य-कला खेलती है और दूसरी ओर काव्य-कला की अमूर्त्तता रेखा और रंग के सहारे चित्रित (मूर्त्त) हो गई है। इन चित्रों को देखकर लगता है कि वृत्तियों मूर्त्तियाँ यदि कहीं हुआ करतीं तो ठीक ऐसी ही होतीं।

मेरी यह धारणा है कि काव्य-वधू का अंग अलंकृत कर

अपनी स्वतंत्र सत्ता के साथ ही महत्त्व-विशेष खो बैठे। यदि ये चित्र कला पारखियों के सामने स्वतंत्र रूप से आये होते तो महादेवी जी की ख्याति चित्रकार के रूप में भी उतनी ही हुई होती जितनी आज कवि के रूप में उन्हें मिली है। पर उनके काव्य के आलोक में उनके चित्रों की आभा मन्द पड़ गई। श्रेष्ठ कवि के रूप में लोग उन्हें जितना जानते हैं, उत्कृष्ट चित्रकार के रूप में उतना नहीं जानते। उधर जैसे ध्यान ही नहीं जाता।

एक ही पथ पर

कबीर

कबीर हिन्दी के प्रथम महान् रहस्यवादी कवि हैं। वे ही हिन्दी काव्य क्षेत्र में प्रथम व्यापक-दृष्टि सम्पन्न महात्मा हुए जिन्होंने सर्व-व्यापक ब्रह्म को मस्जिद अथवा मन्दिर के संकीर्ण कठघरे से मुक्त किया। महादेवी इन्हीं की परम्परा में हैं। कबीर ने स्थूल पूजा का निषेध किया है। निषेध तो मूर्ति-पूजा का महादेवी जी ने भी किया है, परन्तु इस सम्बन्ध में उनकी दृष्टि अधिक उदार है। महादेवी की प्रवृत्ति केवल निषेधात्मक है। अपने तन को ही उन्होंने पूजा सामग्री कल्पित किया है। कबीर की प्रवृत्ति उग्र और खंडनात्मक है। कबीर ने 'घट' में सब कुछ देखने पर बहुत जोर दिया है और आत्मा परमात्मा के मिलन में माया को प्रबल बाधक माना है। साधना-मार्ग में गुरु की महत्ता को उन्होंने सशक्त शब्दों में व्यक्त किया है और ब्रह्म के आलोक दर्शन के लिए हठयोग को चुना है। हठयोग की क्रियाओं के वर्णन सर्वत्र विखरे पड़े हैं। उनकी दृष्टि से साधना के सोपानों को क्रमशः पार करके लक्ष्य की प्राप्ति होती है और पूर्ण सिद्धि पर साधना व्यर्थ हो जाती है। इस बीच अनुभूति-पथ में पड़ने वाले अलौकिक लोकों के विस्तृत विलक्षण वर्णन उन्होंने किये हैं। महादेवी जी इस बखेड़े में नहीं पड़ीं। कबीर की भाँति अध्यात्म ज्ञान को वे भी चरम लक्ष्य मानती हैं। अद्वैतवाद पर

१७७

उनकी भी आस्था है। पर उनका मार्ग भावुकता का है। साधनाओं की जटिलता उन्होंने स्वीकार नहीं की। प्रियतम-प्राप्ति में दुःख की महत्ता उन्होंने अवश्य उद्घोषित की है। कबीर का रहस्यवाद योग और भक्ति का सम्मिश्रण है और महादेवी का रहस्यवाद प्रेम और विवेक का। कबीर ने ब्रह्म को प्रियतम के रूप में देखा है और महादेवी ने भी। कबीर के काव्य पर अन्यत्र उपदेष्टा का रंग गहरा है। वे शरीर और मन की शुद्धि पर बार-बार जोर देते हैं, 'कथनी' और 'करनी' में अन्तर बताते हैं, पाखंडी धार्मिकों, कपड़े रँगनेवालों, और मूड़ मुड़ानेवालों आदि की घोर निन्दा करते हैं जिससे उनकी भाषा तिलमिलानेवाली बन जाती है। पर यह व्यक्ति जहाँ प्रिया-प्रियतम सम्बन्ध पर कुछ कहने बैठता है वहाँ एकदम नम्र हो जाता है, एकदम शिरीष सुमन-सा सुकुमार, नवनीत-सा कोमल। मन के साथ उसका सारा शरीर ही जैसे भावुकता के रस में पिघलकर ढल जाता है। तब उसका अहं और उग्र-भाव न जाने कहाँ विलीन हो जाते हैं। उसकी गिरा बहुत कुछ प्रसाद-गुण-मयी हो जाती है और उसका एक एक शब्द अनुभूति का विश्वास उत्पन्न कराता है। संसार के प्रति उदासीनता कबीर ने महादेवी जी से अधिक विरक्तिजन्य शब्दों में प्रकट की है। कबीर जैसे जैसे साधना के क्षेत्र में ऊँचे उठते गए हैं, वैसे ही वैसे इस माया के प्रपञ्च से मुक्त होते गए हैं। महादेवी जी को जगत पहिले तो दुःखमय प्रतीत होता है, पर फिर उसमें प्रियतम की झलक पाने पर अपनी विरक्ति-भावना को हटाती हुई वे स्नेह की दृष्टि से इसे देखने लगी हैं। पर काव्य के वाह्यांग कबीर की भाषा में विकल है। साहित्यिक ज्ञान उनका अधूरा था इस बात को स्वीकार करने में हमें संकोच नहीं करना चाहिये।

इस स्वीकृति से उनकी महत्ता में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। 'वे वाणी के डिक्टेटर थे' इस प्रकार के फ़तवे उनका गौरव नहीं बढ़ाते। कबीर को भाषा में न वह भाषा-सौष्ठव है जो महादेवी जी की वाणी में है और न उनके पदों में संगीत की वे अजस्र कोमल ध्वनियाँ हैं जो महादेवी जी के गीतों की स्वर-विभूतियाँ हैं। विदुषी होने और व्यंजनात्मक शैली में बात करने के कारण वे कहीं कहीं—वह भी बहुत कम—दुरूह हैं, पर वैसी अस्पष्ट नहीं जैसे कबीर अपनी उलटबासियों में।

जायसी

महादेवी और जायसी प्रेमपथ के दो बड़े पथिक हैं महादेवी जी ने ब्रह्म की कल्पना पति-रूप में की है, जायसी ने पत्नीरूप में। पद्मावत मे जहाँ तक नागमती के विरह का सम्बन्ध है वहाँ तक तो प्रेमी-प्रेमिका संसारी हैं, पर सूफ़ी भावना के अनुसार रत्नसेन की विह्वलता को साधक की विह्वलता का स्वरूप मिल गया है जिसमें ईश्वर की कल्पना पद्मिनी के रूप में पत्नी-भाव से हुई है। महादेवी के प्रणय-निवेदन का माध्यम गीति-काव्य है और जायसी का प्रबन्ध-काव्य। इसी से महादेवी ने अपने हृदय की बात सीधी उनके चरणों तक पहुँचाई है, पर जायसी के हृदय का जो प्रेम है वह दूसरे पात्रों द्वारा व्यक्त हुआ है। जायसी के प्रेम की व्यजना में स्थूलता अधिक फूट पड़ी है यह स्वीकार करना पड़ेगा। महादेवी जी ने अपने अन्तर को इस प्रकार हमारे सामने रखा है कि पहिले तो शरीर भावना उसमे आती नहीं, आती है तो अत्यन्त मर्यादित और शिष्ट रूप में। महादेवी जी के काव्य मे विह्वलता के दर्शन तो

परन्तु किसी स्थूल कहानी का आधार न मिलने से उनके कर्म में प्रयत्न का एक दम अभाव है। जायसी में प्रेम पात्री क प्राप्त करने के लिये विकट प्रयत्न करना पड़ता है जिससे उनके काव्य में एक निराला रस आगया है। साधक राजा हीरामन तोते की सहायता से जो गुरू का स्थानापन्न है सात समुद्र, शूलों, पार्वती और लक्ष्मी के प्रलोभन, तथा अलाउद्दीन की दुष्टता आदि के विघ्नों पर अपने साहस, अपने प्रेम, अपनी दृढ़ निस्पृहता और अपनी शक्ति से विजयी होता हुआ पद्मावती के साथ पर-लोक में चिर-सयोगवान होता है। महादेवी जी ने परलोक को महत्ता नहीं प्रदान की और इस संसार को अन्त में वे अनुराग की दृष्टि से देखने लगी हैं। पर प्रतिबिम्बवाद के आधार पर संसार के बिखरे सौन्दर्य में भगवान की अनन्त सुषमा की छाया देखते हुए भी जायसी की दृष्टि बराबर कैलास या ब्रह्मलोक पर जमी हुई है। वहाँ के अमित सुख और शीतलता का वर्णन उन्होंने बड़े मनोयोग से किया है। मृत्यु को भी महादेवी जी ने अनुराग की दृष्टि से देखा है। उसके चारों ओर कोई भयङ्करता कम से कम उन्हें कभी प्रतीत नहीं हुई। पर जायसी के सम्बन्ध में ऐसा प्रतीत होता है जैसे मृत्यु की छाया उनके मस्तिष्क को सदैव आच्छादित किये रहती थी। स्थान-स्थान पर आध्यात्मिक भावों में परलोकगमन की चर्चा उन्होंने आवश्यकता से अधिक की है। यहाँ तक कि पद्मावती के विवाह के समय भी इस धारणा की छाया से वे मुक्त न हो सके — गवनब तहाँ बहुरि नहिं अवना। जीवन के सब से बड़े सुख के पल में जीवन की सब से भयङ्कर स्थिति की कल्पना, और वह भी एक सुन्दरी बालिका के आशा-भरे कोमल मन में!

जायसी के रहस्यवाद पर नाथ-पंथियों, रसायनियों की क्रियाओं और हठयोग की प्रक्रियाओं का प्रभाव भी स्पष्ट दिख-लाई पड़ता है, जिससे उनका काव्य कहीं-कहीं रूखा प्रतीत होता है। पर महादेवी जी के गीत किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिकता और पारिभाषिकता से एकदम मुक्त हैं। इतना अवश्य है कि अनन्त प्रकृत में जिस करुण विरह के दर्शन जायसी ने किये हैं उस मात्रा में महादेवी जी की प्रकृति व्यथाकुल नहीं है। वहाँ कवयित्री का आत्म-निवेदन ही प्रमुख है। प्रकृति एक प्रकार से उद्दीपन का काम करती या फिर हर्ष-पुलकित दिखाई देती है। पर जायसी में प्रकृति प्रेम-भाव से विरह में विलखती और ब्रह्म लोक की उच्चता और विभु की महानता का ध्यान करके नत और विवश प्रतीत होती है।

जायसी का हृदय जितना गीला प्रतीत होता है उतना महादेवी जी का नहीं। पद्मावत को समाप्त करने पर उनकी इस घोषणा के विरुद्ध एक भी शब्द कहने का साहस नहीं होता कि उन्होंने अपनी कथा को 'रकत (रक्त) की लेई' से जोड़ा था। प्रेमानुभव की उतनी सुन्दर अभिव्यक्तियाँ महादेवी जी के काव्य में निश्चय ही नहीं हैं, जितनी जायसी में। पद्मावत की पंक्तियों में एक प्रकार की गहरी उदासीनता भरी रहने पर भी प्रेम का एक अगाध अपार दुस्तर समुद्र लहरा रहा है जिससे मलिक मुहम्मद का उर अत्यंत दर्द भरा और कसक रस से परिप्लावित प्रतीत होता है। महादेवी जी की जायसी पर जो विजय है वह सूक्ष्मता की स्थूलता पर। कबीर पर विजय की भाँति वह छन्द, अलङ्कार, भाषा विजय नहीं। जायसी तो प्रेम का ही पुजारी था, पीर का मर्मी। पर ज्ञान के जिस सूक्ष्म स्तर में विचरण कर प्रेम के इन्द्र-धनुष को

महादेवी जी ने चित्रित किया है वहाँ निरन्तर निवास तो दूर, आस्था रखने की शक्ति भी कम प्राणियों में होती है।

मीरा

एक दृष्टि से मीरा को महादेवी जी की समकक्षता में रखना अधिक सङ्गत नहीं प्रतीत होता, क्यों कि मीरा भक्त हैं और महादेवी रहस्यवादिनी। फिर भी कुछ ऐसा है कि जब कभी महादेवी जी का नाम जिह्वा पर आता है तब तब मीरा का स्मरण स्वतः हो आता है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि स्त्री कवियों में आजतक जो ख्याति मीरा को मिली वह किसी को नहीं; अतः महादेवी जी ने इस युग में जब उनसे बड़ी ख्याति की स्थापना की तब यह स्वाभाविक लगा कि मीरा और महादेवी जी को एक दूसरे के सामने खड़ा करके देखा जाय। मीरा में रहस्य-वादियों के कुछ संस्कार अवश्य पाये जाते हैं। पर उनकी कविता में त्रिकुटी अनहदनाद, सुरत-निरत, ज्ञान दीपक, सुषुम्ना की सेज, सुन्नमहल, हंस और अगम देश की चर्चा होने पर भी रहस्य-भावना गौण ही नहीं उपेक्षणीय है; क्योंकि ऐसे पदों के अन्त में हो, जिनमें इन शब्दों का प्रयोग हुआ है 'मीरा के प्रभु गिरधर नागर' लिखा हुआ मिलता है, जिससे सिद्ध होता है कि उनके भावों का प्रेरक कोई निर्गुण नहीं वरन् ब्रज का वह छलिया था जिसका काम था मन को चुराना!

मीरा की जीवन-गाथा इतनी व्यथासिक्त और उनकी प्रेम-भावना ऐसी सहज और मर्मस्पर्शिणी है कि उनके सम्पर्क में आने वाले की पत्थर की भी आँखें होंगी तब भी भर आएँगी। प्रत्येक भारतीय के प्राणों के आकाश के एक-एक विद्युत्कण में

उसकी आत्मा आज मँडरा रही है। एक राजकुमारी जिसके चरणों में वैभव बिखरा पड़ा हो यदि यह कह उठे कि 'मेरो दरद न जानै कोय" तब उसकी पीड़ा की थाह काव्य के सिद्धांतों से लेना अन्याय करना होगा। मीरा के पदों से इतना तो सभी को स्पष्ट है कि उन्होंने 'प्रीति-बेलि' को 'आँसुओं के जल' से सींचा था। महादेवी ने भी आँसू कम नहीं बहाये हैं। समानता के लिए ये दोनों ही माधुर्य-भाव की उपासिका हैं। दोनों ही के पद गेय हैं। मीरा जो अनुभव करती थीं वह कह डालती थी, अतः नारी के हृदय में कितनी आर्द्रता और तड़पन होती है यह बात उनके पदों से पूर्ण रूप से झलक जाती है। परन्तु ऐसा लगता है कि किसी कारण से महादेवी जी के हृदय में अभी बहुत-कुछ अवरुद्ध है। वह बात अभी उनके हृदय में ही है जो दूसरों को रुलाती है। ऐसा मैं मीरा के उन प्राणवान् पदों को लेकर कह रहा हूँ जिन्हें संगीत ने अपने स्वरों का माधुर्य देकर घर घर पहुँचाया और उर उर में बसा दिया है। वैसे विचारों और कल्पनाओं की जो निधि महादेवी जी की रचनाओं में रक्षित है उसे मीरा में ढूँढ़ना व्यर्थ होगा।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

रवीन्द्रनाथ स्वभाव से सौन्दर्य के द्रष्टा, स्रष्टा और स्वरकार हैं। सौन्दर्य ने उन्हें इतना अभिभूत किया है कि वे उसके उपासक प्रतीत होते हैं। उनके अन्तर की दूसरी गौण वृत्ति है अध्यात्म। सृष्टि की अनन्त सुषमा के सम्पर्क में आ उनकी दृष्टि तृप्त हुई, उनका मन परिप्लावित और उपनिषदों के मनन तथा सन्त साहित्य के श्रवण (आचार्य क्षितिमोहनसेन के सम्पर्क)

से उनकी बुद्धि संतुष्ट हुई, आत्मा परितृप्त। अतः एक ओर सोनार-तरी की 'निद्रिता' और 'मानस सुन्दरी', चित्रा की 'उर्वशी' तथा 'रात्रे ओ प्रभाते', क्षणिका की 'अभिनय' और 'चिरायमाना' शृङ्गारी रचनाएँ हैं; दूसरी ओर 'परश-पाथर' (सोनारतरी) 'आवर्त्तन' (उत्सर्ग) 'आत्म-त्राण' (गीतांजलि) और 'चंचला (बलाका) आदि सूक्ष्मभावापन्न कविताएँ। अध्यात्म-भावना वैसे उनके अनेक काव्य-ग्रन्थों में बिखरी मिलती है, पर उसकी सजल और प्रचुर अभिव्यक्ति हुई गीतांजलि में ही। भगवान के प्रति टैगोर की दृष्टि महादेवी जी से सर्वथा भिन्न है, इसी से भाव-धारा भी भिन्न गति से बही है। भगवान् के साथ जितने भी सम्बन्ध सम्भव हैं उतने रवि बाबू ने स्थापित कर लिये हैं। कहीं उन्हें माता, कहीं पिता, कहीं देवता, कहीं प्रभु, कहीं सखा, कहीं सम्राट् और कहीं प्रियतम माना है। महादेवी जी का सम्बन्ध तो एक प्रेमिका का निश्चित् सम्बन्ध है। रवि के भगवान विशेष रूप से स्वामी के रूप में आते हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में विनम्रता अत्यधिक है। यह विनम्रता दीनता की दशा तक झुक गई है। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में लघु और महान् के अन्तर को टैगोर भूलते नहीं हैं। इसी से ईश्वर के छोटे से छोटे अनुग्रह को उनकी आत्मा अगाध कृतज्ञता और अनन्त आह्लाद से ग्रहण करती दिखाई देती है। इसके विपरीत महादेवी में मान-भावना प्रबल है और वे समभूमि पर ही उनसे मिलना पसन्द करती हैं।

सृष्टि को जिस प्रगाढ़ मोह से टैगोर ने देखा है उस ममता से महादेवी जी ने नहीं। वे 'रूपसागर' में से ही 'अरूप रत्न' को निकालने का प्रयत्न करते रहे। टैगोर ने अपने भगवान की

कल्पना एक कर्मयोगी के रूप में की है, इसी से एकान्तवासी साधकों को वापिस आने की सलाह उन्होंने दी और स्वयं सृष्टि के साथ एकाकार होने की इच्छा प्रकट की। इच्छाओं की अपूर्ति से घबराकर विरक्त होने की आवश्यकता वे नहीं समझते। उनका मत है कि अपनी ओर आकर्षित करने के लिए यह भी भगवान का एक कठोर अनुग्रह है। सृष्टि की छोटी से छोटी वस्तु उसी का प्रतिरूप है—वह न जाने किस वेश में मिल जाय—अतः कुछ भी हेय नहीं। आडंबर-रंजित उपासना से वह आकृष्ट नहीं होता, स्नेह होने से हृदय में स्वतः उपस्थित हो जाता है।

मृत्यु को रवि बाबू भी अनुराग की दृष्टि से देखते हैं। वह तो प्रियतम की दूती है। मुक्ति तो न टैगोर चाहते हैं और न महादेवी। कवयित्री की भाँति जन्मान्तर में उनका भी दृढ़ विश्वास है। उनकी आत्मा भी जन्म जन्म से उन्हें प्रेम कर रही है।

'मुझे ऐसा लगता है कि अपने अस्तित्व के उषाकाल से ही मैं तुम्हारे सौन्दर्य को निहार रहा हूँ और अनन्त युगों से यद्यपि मैंने तुम्हें अपने आलिंगन में अनुभव किया है, तथापि मन तो भरा नहीं।"

यह भावना टैगोर की वृत्ति को संसार और अध्यात्म दोनों के क्षेत्र में पूर्णतः स्पष्ट करती है।

माया की शक्ति को टैगोर ने स्वीकार किया है। माया के आवरण में आत्मा नित्य उलझती जा रही है और इस प्रकार उनसे दूर हो रही है। फिर भी कोई शक्ति जीवन में चुप-चुप हमारा अनुसरण करती हुई हमें सचेत करती रहती है। सत् असत् के विवेक, कुभावनाओं से मुक्ति और सद्गुणों के ग्रहण में ही हमारा मंगल है ऐसा हमारी वृत्तियों का संचालक कहता है। महादेवी जी

इस मायावाद के चक्कर में नहीं पड़ीं। असत् वृत्तियों में 'अहंकार' को रवि बाबू ने मिलन में प्रबल बाधक माना है।

गीतांजलि से बाहर कहीं कहीं छोटी छोटी कथाओं की कल्पना करके टैगोर ने अपने आध्यात्मिक भावों की अभिव्यक्ति सफलता से की है। महादेवी जी ने इस शैली का प्रयोग नहीं किया। प्रतीकों का उपयोग दोनों ने खुलकर किया है। टैगोर ने प्रभात, आकाश, विहग, सुमन, रजनी, मलयानिल, लहर, मधुमास, झंझा, वीणा आदि तो इस काम के लिए लिए ही हैं, पर सबसे अधिक उन्हें सरिता और नौका के प्रतीक प्रिय हैं।

वृत्ति टैगोर की भी राजस् है ही। साधक की स्थिति में अत्यन्त विनम्र रहने पर भी भावों की उड़ान का आकाश राजश्री है—पुष्पाकीर्ण पथ, सुवासित जल, स्वर्ण वीणा, स्वर्ण रथ, स्वर्ण नूपुरों की झंकार, सम्राट् का आगमन आदि।

भावों की विभूति महादेवी और टैगोर दोनों में ही प्रचुर मात्रा में है। संगीतात्मक तत्व के लिए रवि बाबू की बहुत प्रशंसा की जाती है। देखा जाय तो उनकी बँगला गीतांजलि से 'दीपशिखा' का संगीत किसी प्रकार कम नहीं है—न वर्णों की कोमलता में और न लय की नूतनता और विविधता में। भाषा रवीन्द्रनाथ के गीतों की अत्यन्त स्वाभाविक, सहज-बोध, आडम्बर-हीन साहित्यिक और स्निग्ध है; महादेवी की प्रौढ़, परिमार्जित और मधुर, पर प्रसाद-गुण उनमें सर्वत्र नहीं।

टैगोर की गीतांजलि विविध वर्णों के पुष्पों की एक अंजलीभेंट है। उन डेढ़ सौ गीतों में भावों का कोई तारतम्य नहीं। महादेवी जी की रचनाओं में यह तारतम्य बना हुआ है। उनके काव्य-ग्रन्थों को पढ़कर जिस प्रकार प्रेम के स्तरों पर हम चढ़ते

चले जाते हैं, उस प्रकार टैगोर में नहीं। गीतांजलि के गीत विनम्र भक्त की उपासना के बिखरे पुष्प-मात्र हैं, पर महादेवी जी की रचनाएँ हैं एक प्रणयिनी के हृदय-सुमनों की माला। टैगोर की आत्मा परमात्मा की खोज में है यह तो सत्य है, परतु उसमें उस तीव्र आकुलता के दर्शन नहीं होते जिसके महादेवी में। उनकी प्रतीक्षा में प्रसन्नता अधिक है, पीड़ा कम। टैगोर के पास जो पुष्प थे उनमें से कुछ देवता पर चढ़ गये और शेष उन्होंने औरों के लिए बचा लिए, पर महादेवी जी के पास जो कुछ है वह सब देवता के निमित्त है।

जय शंकर प्रसाद

'प्रसाद' की रहस्य-सम्बन्धिनी रचनाएँ उनके काव्य ग्रन्थों में उनकी प्रेम सम्बन्धी रचनाओं के साथ सङ्कलित या फिर घुली-मिली मिलती हैं। संख्या में ये बहुत कम हैं। उदाहरण के लिए 'लहर' की 'निज अलकों के अन्धकार में' या 'झरना' की 'तुम' 'दर्शन' और 'कुछ नहीं' आदि कविताएँ। 'प्रसाद' जी के सम्बन्ध में एक झंझट यह है कि उनके प्रेम का आलंबन तो लौकिक है, परन्तु उनकी पंक्तियों का अर्थ अधिकतर दोनों ओर खींचा जा सकता है, अतः उनके प्रशंसकों ने जहाँ उनमें रहस्यवाद नहीं है वहाँ भी उसे ढूँढ़ निकाला है। उनकी 'आँसू' पुस्तिका इस दिशा में सदैव विवाद का विषय बनी रहेगी। मेरा निश्चित मत है कि उसमें दर्शन, रूप-वर्णन, विरह और मिलन के जैसे वर्णन पाये जाते हैं उनके अन्तर में झाँकने से उनकी आत्मा संसारी ही हो सकती है। 'हिलते द्रुमदल कल किसलय देती गलबाँही डाली' के प्रारम्भ से लेकर आगे की कुछ पक्तियों में संभोग तक की चर्चा व्यंजना में छिपा दी है, पर रहस्यवाद के प्रेमी कहेंगे यह सब कुछ

ईश्वर से सम्बन्धित है, क्योंकि 'आँसू' में एक स्थान पर 'महा-मिलन' शब्द आया है। हाँ, कामायनी में कहीं-कहीं रहस्य-भावना अत्यन्त स्पष्ट है जैसे 'आशा' सर्ग में प्रकृति के महान चिन्हों — नक्षत्र, सोम, सविता, वरुण, मरुत, पूषा—को परि-चालित करने वाली अदृश्य महाशक्ति के सम्बन्ध में मनु की जिज्ञासा-भरी उक्तियाँ।

सब मिलाकर अभी तक अर्वाचीन हिन्दी कवियों में 'प्रसाद' सर्वश्रेष्ठ और महादेवी जी से भी उच्च स्थान के अधिकारी हैं और यह अधिकार उनका उस समय तक सुरक्षित है जिस समय तक कोई कवि कामायनी जैसे उत्कृष्ट महाकाव्य का सृजन नहीं करता। पर रहस्यवाद के क्षेत्र में व्यवस्थित रूप से महादेवी जी ने ही लिखा है; अतः आज के किसी कवि से उनकी कोई समता इस दिशा में नहीं। रहस्य की भाव-भूमि में 'प्रसाद' को भी महादेवी जी के बाद ही स्थान मिलेगा। 'प्रसाद' जी विशेष रूप से लौकिक प्रेम के कवि हैं। प्रेम में रूपासक्ति, सुकुमार सौंदर्य, लज्जा के व्यवधान, प्रेमिका की निष्ठुरता और उदासीनता, प्रेमी की पीड़ा और संयोग सुख के जो वर्णन पाये जाते हैं वे इस बात की ओर यद्यपि स्पष्ट इंगित करते हैं कि उन्होंने वास्तव में कुछ देखा, भोगा और सहा था; तथापि उनकी रहस्य-भावना में वैसी गहराई और उड़ान नहीं है। कहीं जिज्ञासा और कहीं मुग्धता की दृष्टि उठाकर वे रह गए हैं। लौकिक और अलौकिक आलंबनों को एक ही हृदय से सँभालना कठिन पड़ता भी है। 'अरूप' की साधना में रूपासक्ति प्राण-पक्षी के लिए गाढ़े-रस का वह कुण्ड है जिसमें डूबकर पंखों की उड़ानशक्ति कुण्ठित और व्यर्थ हो जाती है।

सुमित्रानन्दन पंत

'पल्लव' में प्रकृति और प्रेम तथा 'गुञ्जन' मे सौंदर्य और जीवन की विविध रचनाओं के बीच दो-चार ही रहस्यवाद से सम्बन्धित कविताएँ पाई जाती हैं—उदाहरण के लिए 'मौन-निमन्त्रण,' (पल्लव) और 'विहग विहग' (गुञ्जन)। पल्लव की कुछ अन्य रचनाएँ जैसे 'विनय', 'विसर्जन' और 'याचना' जो एक प्रकार से प्रार्थना-गीत हैं, वीणा-काल की कविताएँ हैं। 'वीणा' की समस्त रचनाएँ—एकाध को छोड़ (जैसे विवेकानन्द पर)—अवश्य रहस्य-भावना से प्रसूत हैं।

'पल्लव' के 'मौन-निमन्त्रण' में कवि ने अपने को प्रेमिका के रूप में देखा है, गुञ्जन में (यदि 'कब से विलोकती तुमको' और 'मधुवन' शीषक रचनाओं को प्रेयसि के स्वरूप के अनिर्दिष्ट होने से उन्हें रहस्यवाद में भी ले लें तो) प्रेमी के रूप में। पर 'वीणा' की रहस्यवृत्ति एकदम स्पष्ट है। वहाँ ईश्वर को 'मा' मानकर कवि अपन अन्तर के भावों का निवेदन करता है।

वीणा की रचनाओं में पन्त एक भोली वालिका के रूप में आते हैं। अन्तर का यह भोलापन पंक्ति-पंक्ति से फूट पड़ा है। ऐसी सरसता, ऐसी सरलता अर भावों की ऐसी अकृत्रिम व्यंजना पन्त के काव्य में फिर देखने को नहीं मिली। पन्त-के उर की यह सरला बालिका महादेवी के मन की शिक्षिता प्रेमिका से अलग पहचानी जा सकती है।

व्यापक दृष्टि से पन्त प्रकृति के कण-कण में मा की छवि का आभास पाते हैं। सुविधा के लिए सृष्टि को उन्होंने दो भागों में विभाजित कर लिया है—एक प्राणियों की दूसरी प्रकृति की।

सांसारिक वैभव को तो वे मा के मिलन में बाधक मानते हैं, पर प्रकृति-वैभव को ज्ञान-पथ में साधक। अज्ञान के अन्धकार से मुक्ति पा ज्ञान के आलोक की ओर बढ़ने के लिए कवि निरन्तर उत्सुक है। पन्त की रहस्यानुभूति का माध्यम विशेष रूप से प्रकृति ही है। प्रकृति के अनेक रूपों में अपने को परिवर्तित करने में उन्हें बड़ा सुख मिलता है। कहीं वे ओस-कण बनकर मा के पाद-पद्म धोना चाहते हैं, कहीं तरंग बन उनके श्रवणों में कलरव भरना चाहते हैं, कहीं विहग-बालिका बन उसके गीतों से वन को गुञ्जरित करने का निश्चय करते हैं। इसी प्रकार कहीं अपने को चकोर और उसे राकापति, अपने को विहगरव और उसे सान्ध्य-लालिमा, अपने को भ्रमर और उसे सुमन तथा अपने को करील और उसे ऋतुराज समझते हैं। प्रकृति में उस मा की छवि की झलक पर एक प्रकार के कोमल स्पर्श-सुख का अनुभव करते हैं। उनकी दृष्टि से सरिता उनके लिए बहती, पपीहा पुकारता, भ्रमरी गान सँजोती और सौरभ वेणी की गन्ध लेकर वितरण करता फिरता है। उनके समस्त प्रतीक भी प्रकृति से ही सम्बन्ध रखते हैं जैसे विकार भरे मन के लिए बादल, ज्ञान के लिए अरुणोदयबेला, भगवान के लिए सूर्य आदि। महादेवी जी प्रकृति में इतनी तल्लीन नहीं हो पाई। उनमें अपना व्यक्तित्व एकदम सजग है।

वीणा की बालिका का हृदय बहुत कोमल-कोमल भोला-भोला सा है। पर यह बालिका केवल मुग्धता, विस्मय और कृतज्ञता में डूबकर ही रह गई। ईश्वर को मा रूप देने के उपरान्त और कुछ सम्भव ही नहीं था। महादेवी की मुग्धा ने यौवन के आतप, प्रतीक्षा के सूनेपन और विरह के कसक-भरे दंशन का अनुभव भी किया

है। इसीलिए महादेवी की अनुभूति विविधता-समन्वित होने से पन्त की एकांगी अनुभूति से कहीं अधिक व्यापक और गहरी है। पन्त अपने प्रारम्भिक पथ का परित्याग करके अन्य दिशा में मुड़ गये, अतः भाव, विचार, कल्पना और कला की वह प्रौढ़ता उनकी रहस्यवाद की रचनाओं में कम से कम नहीं पायी जाती जो महादेवी की कृतियों में उत्तरोत्तर लक्षित होती है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

'निराला' जी रहस्यवादी उतने नहीं हैं। जितने वेदान्तवादी अर्थात् रहस्यवादी के लिए प्रेम की जिस गहरी आर्द्रता की आवश्यकता होती है वह उनके पास नहीं; आत्म-निवेदन के लिए जिस तल्लीनता की अपेक्षा होती है उसका उनके यहाँ अभाव है; आत्मा जिस सुस्पष्ट सम्बन्ध को निश्चित कर दृढ़-मात्र से परम-तत्व की ओर अग्रसर होती है वह उनकी रचनाओं में नहीं पाया जाता। ईश्वर को कहीं प्रिय कहीं प्रिया और कहीं माता के रूप में उन्होंने देखा है। 'वीणा' के पन्त ने जिस प्रकार उस परोक्ष शक्ति को मा के रूप में या महादेवी ने अपनी रचनाओं में प्रियतम के रूप में देख भावों के मकरन्द-भरे सुमन उनके चरणों पर चढ़ाये हैं वैसी वृत्ति निराला जी की नहीं प्रतीत होती। जिस प्रकार वे प्रेम-प्रसंग उठाते, प्राकृतिक चित्रों का अंकन करते, दीन-दलित-शोषित की दुःख गाथा गाते, सामाजिक कुरीतियों और अपनी भावना के अनुसार अयोग्य व्यक्तियों पर व्यंग्य कसते, उसी प्रकार वेदान्त शास्त्र के निजी अध्ययन के आधार पर तत्व-चिंतन भी करते दिखाई पड़ते हैं। उनमें सिद्धान्त-कथन अधिक है, प्रेम-मग्नता कम। इतना होते हुए भी रहस्यवाद के

प्रवर्तकों में से वे हैं और इस काल के रहस्यवादियों के साथ उनका नाम गौरव के साथ लिया जायगा।

'परिमल' 'गीतका' और 'अनामिका' के बहुत से गीत और रचनाएँ रहस्य-भावना के अन्तर्गत हैं। प्रतीकों में इन्होंने समीर, अन्धकार, रविरश्मि, सागर, जलयान, कण और डोरा आदि को लिया है। परिमल की 'कण' शीर्षक कविता में तो कवि सन्देह की स्थिति में ही है। चेतन-तत्व और विश्व में से कौन व्यापक है कौन व्याप्य ? निर्णय नहीं हो पाता। व्यापक व्याप्य न होकर वे अभिन्न तो नहीं हैं ? यही सोचता कवि रह जाता है! गीतिका के गीतों में यह स्वर प्रबल है कि सारी सृष्टि मनुष्य की भावना से निर्मित है। उसे वह भेद कर पार जा सकता है। अपने बन्धन और मोक्ष के लिये स्वयं जीव ही उत्तरदायी है, अन्य कोई नहीं। पर वह अज्ञान के आवरण से आवृत है, अतः उस परमप्रकाश से ज्ञानलोक के दान की याचना करने से ही उद्धार सम्भव है। परिमल की 'तुम और मैं' रचना जिसे हिन्दी-जगत में बड़ी ख्याति मिली निराला जी की उस वृत्ति की परिचायिका है जहाँ वे आत्मा को परमात्मा के साथ एक अभिन्न शाश्वत सम्बन्ध में संलग्न देखते हैं। अपनी एक और विशिष्ट रचना 'वसन्त-समीर' में उन्होंने उस स्थिति की कल्पना भी की है जहाँ साधक यह कह उठता है : "केवल मैं, केवल मैं, केवल मैं, केवल मैं, केवल ज्ञान......।" इसके आगे कहने को कुछ रह ही नहीं जाता। पर इसी ग्रन्थ में उनकी 'अधिवास' शीर्षक रचनाभी है जिसमें 'अश्रुभरी आँखों' पर उन्होंने अध्यात्म-चिंतन और उसके फल को न्योछावर कर दिया है। तात्पर्य यह कि रहस्यभावना उनके प्राणों की टीस बनकर नहीं आई। नित्य के

जीवन में अन्य वृत्तियों के साथ आध्यात्मिक चेतना का स्फुरण इनमें कभी-कभी होता है जिसे वे गीत में बाँध लेते हैं और यहीं, उन्हीं का क्या सभी आधुनिक रहस्यवादियों का, जिनमें से कुछ का नाम मैंने ऊपर लिया और कुछ को छोड़ दिया है, महादेवी जी से विशेष विभेद है।

निराला जी का अभिव्यक्ति-पक्ष शुष्क और दुरूह है। लोक-पक्ष में अनामिका की 'तोड़ती पत्थर' 'सरोज-स्मृति' और 'दान' जैसी, प्रकृति के क्षेत्र में परिमल की 'जुही की कली' और 'शेफालिका' जैसी मार्मिक रचनाएँ अध्यात्म के क्षेत्र में विरल ही हैं। स्पष्टता की दृष्टि से परिमल की 'तुम और मैं' तथा अनामिका की 'चुम्बन' जैसी रचनाएँ उन्होंने कम लिखी हैं। इस अस्पष्टता के कारण हैं। आध्यात्मिक वृत्तियों की व्याख्या के लिए जिस प्रतीक को लेकर वे विभिन्न अप्रस्तुतों का उस पर आरोप करते हैं वे अपने पक्ष में तो पूरा अर्थ देते हैं पर दूसरे पक्ष में थोड़ी दूर तक सहारा देने के उपरान्त अदृश्य हो जाते हैं और पाठक-पथिक के बुद्धि-चरण अनिश्चित-कल्पना पगडंडियों पर भटकने के लिए अन्धकार में निर्दयता से छोड़ दिए जाते हैं। दूसरे, ध्वनि या व्यंजना का सहारा प्रसाद ने भी लिया है, महादेवी ने भी, पन्त ने भी। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आप अपनी ऊँची उड़ान में पाठक की बुद्धि के प्रवेश के लिए कोई रन्ध्र तक न छोड़ें। निराला जी प्रायः सब द्वार बन्द करके भीतर बैठ जाते हैं और पुकार मचने पर टिप्पणी या सरलार्थ देते फिरते हैं। तनिक सी असावधानी से प्रतिभा की विफलता का ऐसा उदाहरण हिन्दी साहित्य में ढूँढ़ने पर कठिनाई से मिलेगा।

एक ही पथ पर

आधुनिक काल में रहस्यवाद के पथ पर जो दो चार पथिक अक्षय-भावों का संबल लेकर चले थे उनमें से कोई लौकिक आकर्षण, कोई प्रचार और कोई व्यक्तित्व-प्रदर्शन के पथ पर मुड़ गया। इनके अतिरिक्त जो आवेश में अनुसरण करने चले थे वे या तो थककर बैठ गए या समय की बाढ़ में बहते दिखाई देते हैं।

आज तो केवल किसी के दो चरण ही गहन तम-प्रदेश को पार करते दृष्टिगोचर होते हैं। उसकी पुतलियाँ आँसुओं में डूबी हैं, पर उसके हृदय में अगाध आशा है, उसकी आत्मा में अडिग अटूट विश्वास और उसके हाथों में एक निष्कम्प अक्षय आलोक-प्रदीप!

अवशेष

हिन्दू-समाज का सङ्गठन कुछ इस प्रकार का है कि उसमें हिन्दू स्त्री को अपने पूर्ण विकास के लिए बहुत कम अवकाश मिलता है। सुगृहिणी बनाकर हिन्दुओं ने उसे गृह-देवी की उपाधि से तो विभूषित किया पर जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उसके मुक्त प्रवेश को रोक उसे पूर्ण मानवी बनने से वंचित रखा। राजनीति, धर्मनीति और समाजनीति में खुला भाग लेने का प्रश्न तो दूर, शिक्षा तक के क्षेत्र में उसे अनेक प्रकार की असुविधाओं की शृंखलाओं से ऐसा जकड़ दिया कि वह कठिनाई से हिल-डोल और साँस ले सके। यों दो चार नाम गिनाने का गर्व वह सदैव कर सकता है। पर इससे उसकी न्यायप्रियता नहीं सिद्ध होती यही प्रमाणित होता है कि क्षमता के प्रदर्शन का उचित अवसर यदि नारी को दिया जाय तो क्रूरता को छोड़कर वह पुरुष से और किसी भी दिशा में किसी प्रकार कम नहीं है।

वैदिक काल के मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों में स्त्री-ऋषियों का भी नाम आता है। वेदान्त के सूक्ष्म तत्वों को समझकर उनपर तर्क करने वाली मैत्रेयी, गार्गी और आत्रेयी के नाम भी अभी हम भूले नहीं हैं। ऐसा लगता है जैसे उस धुँधले युग को आज से जोड़ने के लिए ही महादेवी का जन्म हुआ हो। जिस ज्ञान की अधिकारिणी कभी उपर्युक्त आर्याएँ अथवा श्रद्धा, घोषा और लोपामुद्रा थीं उसी ज्ञान को सहज-भाव से स्वीकार कर महादेवी

ने अपने काव्य द्वारा उसे सरसता प्रदान की है। महादेवी नहीं वेदना मानों साकार हो गई है, ज्ञानमूर्ति मानो रसमूर्ति होकर अवतीर्ण हुई है, स्वर्ग की उज्ज्वल आत्मा मानों पृथ्वी के आँसुओं की मंदाकिनी में स्नान करने आई है।

कविता के क्षेत्र में 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सांध्य-गीत' और 'दीप-शिखा' देकर, संस्मरण के क्षेत्र में 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' देकर, विचार के क्षेत्र में शृङ्खला की कड़ियाँ, और विवेचनात्मक गद्य देकर महादेवी जी हिन्दी-जगत के सामने कवि, कहानीकार, निबन्ध-लेखिका और आलोचक के रूप में आई हैं। इधर वेदों के विशिष्ट अंशों का अनुवाद उन्होंने आरम्भ किया है और इस प्रकार वे एक सफल अनुवादिका भी सिद्ध हुई हैं। उनका साहित्यिक व्यक्तित्व आज बहुमुखी और व्यापक हो उठा है। हिन्दी संसार को अभी वे क्या और देंगी, यह भविष्य ही ठीक से बतलावेगा, पर उनकी लेखनी से जो कुछ निकलेगा वह हमारी भाषा और हमारे साहित्य की प्रौढ़ता और समृद्धि का परिचायक होगा, इतना अभी से विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है।

मैंने बहुत से साहित्यिकों को बातें करते सुना है, पर निरन्तर खिलखिलाकर हँसते हुये इस प्रकार बोलना जिससे यदि उन मुसिकान-घुले वाक्यों को उसी प्रकार लेखनी-बद्ध कर दिया जाय तब एक शब्द तक की काट-छाँट किये बिना वे किसी भी प्रौढ़ साहित्यिक ग्रन्थ का रूप धारण कर लें, कम सुना है—नहीं सुना है।

कल्पना की उत्कृष्ट उड़ान और भावों की मर्मस्पर्शिणी अगम गहराई का पता उनके काव्याकाश में विहार करने और

गीत-सिंधु में डुबकी लेने से ही हो सकता है; पर उन जैसे गम्भीर विचारक कवि भी थोड़े होते हैं यह 'दीपशिखा' की उनकी भूमिका को पढ़ने से जाना जा सकता है। मेरा विचार है कि साहित्य के शैशव से लेकर अब तक हिन्दी के सहस्रों काव्य-ग्रंथों में से एक में भी ऐसी प्रौढ़ चिन्तनधारा से संयुक्त भूमिका के दर्शन नहीं होते।

महादेवी की कविता अपार्थिव चेतना के गिरि से फूटी आध्यात्मिक वेदना की मन्दाकिनी है जो सहस्र-सहस्र अलौकिक भावनाओं की लहरियों को अपनी करुणा-क्रोड़ में खिलाती हुई परम शांति के महासमुद्र की ओर अत्यन्त वेग से निरन्तर बढ़ रही है। स्मरण रखना चाहिए कि उनके गीत चलती 'ट्रेनों' घूमती बसों और दौड़ते 'रिक्शाओं' में नहीं पढ़े जा सकते—नहीं समझे जा सकते। वे एकान्त में, एकाग्र मन से दो-दो चार-चार करके पढ़ने के लिये हैं। जितनी बार उनके रस में डूबा जाय उतने ही अधिक गहरे अर्थ से पूर्ण वे प्रतीत होते हैं, उतनी ही अधिक सात्विकता वे अन्तर में जगाते हैं, उतना ही अधिक विश्राम मन के विकल थके यात्री को देते हैं। स्थूलता, कलह और क्लेश के लोक से ऊपर उठा वे हमें एक सूक्ष्म आनन्द के पूत वातावरण में विचरण करने का अवकाश देते हैं। किसी प्रकार की नैतिक शिक्षा के प्रचार का माध्यम न होने से वे शुद्ध कलात्मक हैं। उत्कृष्ट काव्य के वे उदाहरण हैं। परम सत्य के निरूपक होने से वे 'सत्य'; आत्मकल्याण के दूत होने से 'शिव', वासनाविहीन होने से वे 'सुन्दर' हैं। सब कुछ होते हुये वे पृथ्वी के गीत हैं, यह न भूलना चाहिये। वे अपनी साधना से

स्वर्गीय होकर अमर होगये हैं। सुनिये तो, यह कैसी गूँज उठ रही है?

अब धरा के गान ऊने,
मचलते हैं गगन छूने,
किरण - रथ दो,
सुरभि - पथ दो,
और कह दो अमर मेरा हो चुका सन्देश।

—दीपशिखा

ऐसे विलक्षण साहित्यिक व्यक्तित्व की समता हम किससे करें? जैसे तुलसी ने रामायण और 'प्रसाद' ने कामायनी लिख कर विश्व-कवियों में अपना स्थान बना लिया, उसी प्रकार महादेवी की गीतात्मक दिव्यानुभूति ने विश्व के महान् कवियों की पंक्ति में उन्हें बिठाया है। वैदिक-काल से लेकर आजतक महादेवी जैसे असाधारण व्यक्तित्व की स्त्री-लेखिका ने—ऐसी अतुल मेधाविनी दार्शनिक कवयित्री ने—इस भारत भूमि में जन्म नहीं लिया, इतिहास इस बात का साक्षी है और आजतक का भारतीय वाङ्मय इस तथ्य की घोषणा शताब्दियों तक करता रहेगा।